जैन साहित्य एवं मंदिर उपकरण

हमारे यहाँ सभी प्रकार का दिगंबर जैन एवं भारत के सभी प्रमुख धार्मिक संस्थानों का सत साहित्य एवं मदिर में उपयोग हेतु उपकरण और प्रभावना में बाटने योग्य सामग्री सीमित मूल्य पर उपलब्ध है !

शुध्द चांदी के उपकरण आर्डर पर निर्मित किये जातें है!

(पांडुशिला, सिंघासन ,छत्र ,चंवर प्रातिहार्य , जापमाला , मंगल कलश,पूजा बर्तन चंदोवा,तोरण,झारी)

नोट :- हमारे यहाँ घरो मे उपयोग हेतु , साधुओं के उपयोग हेतु, अनुष्ठानो मे उपयोग हेतु शुध्द देशी घी भी आर्डर पर उपलब्ध कराया जाता है !

Contact:-
Sourabh Sagar Indore
9993602663
7722983010
sourabhjn1989@gmail.com

जैन

जय जिनेन्द्र

गाय का शुद्ध देशी घी

शुद्धता पूर्वक बनाया गया देशी घी

साधु व्रती एवं धार्मिक अनुष्ठानो को ध्यान में
रख कर बनाया गया शुद्ध देशी घी

घी ऐसा के दिल जीत जाये !

अब 1kg की पैकिंग में भी उपलब्ध

संपर्क सूत्र

Contact For Order

Sourabh Sagar Indore

Call & Whatsapp:

9993602663,7722983010

All India Home Delivery

पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला : ६८

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

2724

विक्रमकविविरचितं

नेमिदूतम्

['रेणुका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्]

व्याख्याकारः
धीरेन्द्र मिश्रः

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५
PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪTHA, VĀRĀṆASĪ-5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला : ६८

प्रधान सम्पादक
प्रो॰ सागरमल जैन

विक्रमकविविरचितं

नेमिदूतम्

['रेणुका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्]

व्याख्याकारः
धीरेन्द्रमिश्रः

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी - ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक
पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
आई० टी० आई० के समीप, करौंदी
पोस्ट – बी० एच० यू०
वाराणसी – २२१००५
दूरभाष : ३११४६२

व्याख्याकार : धीरेन्द्र मिश्र

प्रथम संस्करण : १९९४

मूल्य : रु० [redacted] मात्र

मुद्रक
नया संसार प्रेस
बी० २/१४३ ए, भदैनी
वाराणसी – २२१००१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

बहुमुखी प्रतिभा के धनी जैनाचार्यों ने उत्कृष्ट आत्म-साधना के साथ-साथ प्रभूत साहित्य की भी रचना की। साहित्य की लगभग सभी विधाओं में उन्होंने ग्रन्थ प्रणीत किये। उनके द्वारा रचित दूतकाव्य भी उच्चकोटि के हैं। जैनाचार्यों द्वारा विरचित दूतकाव्य जैन दूतकाव्य के नाम से अभिहित किये जाते हैं। मेरुतुङ्गाचार्य विरचित जैनमेघदूत, चारित्रसुन्दरगणि विरचित शीलदूत, विक्रमकवि विरचित नेमिदूत और जिनसेन कृत पार्श्वाभ्युदय इस विधा के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा की विशेषताओं के अनुरूप ही जैनाचार्यों की कृतियों में शृंगार पक्ष लगभग गौण रहा है और वैराग्य भावना अधिक मुखरित हुई है।

नेमिदूत के कर्त्ता विक्रम कवि खम्भात निवासी श्वेताम्बर खरतरगच्छीय श्री जिनेश्वर सूरि के श्रावक भक्त थे। नेमिदूतम् में राजीमती के विरह-दग्ध हृदय की भावनाओं का चित्रण पाया जाता है। विरक्त नेमिकुमार की तपोभूमि में पहुँचकर राजीमती उन्हें अपनी ओर अनुरक्त करने का निष्फल प्रयास करती है। अन्त में पति के त्याग-तपश्चरण से प्रभावित हो वह स्वयं भी तपश्चर्या करने लगती है।

जैनाचार्य विरचित साहित्यिक कृतियों को विद्वज्जगत के सम्मुख लाने की योजना के अन्तर्गत पार्श्वनाथ शोधपीठ ने अद्यावधि जैनमेघदूतम् और शीलदूतम् का विस्तृत भूमिका के साथ हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है। इसी क्रम में नेमिदूतम् को भी संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद और भूमिका सहित प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

भूमिका, अनुवाद और टीका डॉ० धीरेन्द्र मिश्र की है। डॉ० धीरेन्द्र ने अपने ग्रन्थ के प्रकाशन का अवसर हमें दिया, इसके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं। टीका, अनुवाद के संशोधन तथा प्रूफ-संशोधन में डॉ० अशोक कुमार सिंह ने सहयोग किया, एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ के सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए हम श्री सन्तोष कुमार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय, नया संसार प्रेस, भदैनी, वाराणसी के प्रति आभार ज्ञापित करते हैं।

विद्वज्जगत से हमारी यह अपेक्षा अवश्य है कि ग्रन्थ के विषय में अपने मन्तव्यों से अवगत करायें, ताकि हम उनके अभिमतों से लाभान्वित हो सकें।

अप्रैल, १९९४

— भूपेन्द्र नाथ जैन
मन्त्री
पू० सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ,
वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखकीय

सभी शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन है — प्रवृत्ति-निवृत्ति का उपदेश देकर 'पुरुषार्थचतुष्टय' की प्राप्ति कराना, चाहे दर्शनशास्त्र हो या व्याकरणशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र। हाँ, उनके मार्ग भिन्न अवश्य हैं। शास्त्र और काव्य को एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस भूलोक के एकमात्र मननशील मानव ने जहाँ एक ओर 'कुतः स्मः जाताः कुतः इयं विसृष्टिः' इस जिज्ञासा द्वारा अपनी मूल प्रकृति के आधारभूत रहस्यों को समझने का उपक्रम किया, वहीं दूसरी ओर अपनी आदि जननी प्रकृति के नाना उपकारों से गद्गद होकर उसने हृदय के विमल उच्छ्वासों को मार्मिक वाणी में परिणत कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। प्रथम प्रकार के साहित्य को हम दर्शन, विज्ञान, शास्त्र आदि कहते हैं, तो दूसरे प्रकार के साहित्य को काव्य। शास्त्र की अपेक्षा काव्य का मार्ग सरस है, जिसका अनुसरण करना सर्वजन के लिए सम्भव है, इसका कारण है उस (काव्य) की सरसता। काव्य की इसी सरसता को ध्यान में रखकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है —

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

इस अपार काव्य-जगत् का स्रष्टा कवि है, उस कवि प्रजापति को जैसा रुचता है वैसा ही अपनी रुचि के अनुसार काव्य-जगत् की रचना करता है। इस परम्परा में 'विक्रमकवि' की कृति 'नेमिदूतम्' के इस प्रथम संस्करण को अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है, तो साथ ही भयभीत भी हूँ, क्योंकि —

अर्वाग्दृष्टितया लोको यथेच्छं वाञ्छति प्रियम्।
भाग्यापेक्षी विधिर्दत्ते तेन चिन्तितमन्यथा ॥

वस्तुतः काव्य के भावों की अभिव्यक्ति अति दुष्कर है, जो गुरुजनों की श्रद्धा प्राप्ति किये बिना सम्भव ही नहीं। इस कार्य के पूर्ण होने में अपने गुरुजनों के साथ-साथ परम श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सागरमल जैन जी (निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी) तथा डॉ० अशोक कुमार सिंह जी (शोध-अधिकारी, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी) के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनकी सतत प्रेरणा एवं आशीर्वाद से यह अत्यन्त दुरूह कार्य मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिए सम्भव हुआ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका लेखन में जिन विद्वान् लेखकों की कृतियों से सहायता ली गई है, उनका मैं आभारी हूँ।

यहाँ मैं स्पष्ट कर देता हूँ कि पाठकों की निजी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए हमने प्रस्तुत प्रथम संस्करण में कुछ निश्चित क्रम रखा है, परन्तु कवि के अभिप्राय को सुबोध रूप में, पाठकों अथवा विद्वानों के अपने करने के लिए कुछ भी रहने न दिया गया हो—ऐसी बात नहीं है। और यदि पाठक अर्थमात्र देखकर ही अपना कार्य पूर्ण समझ लें, तो फिर हमारा सब परिश्रम व्यर्थ ही हो जायेगा। हमारा काम था मार्ग दिखाना, सो दिखा दिया। पाठकों की स्वाभाविक परिश्रम-वृत्ति कुण्ठित न हो, परिहृत न हो, प्रत्युत वे रसान्वित होती चले, नव परामर्शों प्रेरणाओं से विलसित होती चले—हमारा यही ध्येय रहा है, परन्तु इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिली है, इसकी समीक्षा सुधिपाठकजन ही करेंगे।

अन्त में, हम अपने विद्वान् पाठकों से प्रस्तुत संस्करण की त्रुटियों के लिए क्षमा चाहते हुए यह निवेदन करते हैं कि वे इसकी त्रुटियों की सूचना देकर हमें अनुगृहीत करें, जिससे भविष्य में इनका निराकरण किया जा सके।

रामनवमी
विक्रम सं० २०५१

विनयावनत
धीरेन्द्र मिश्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

इन्द्रियों की मध्यस्थता के भेद से काव्य के दो भेद किये गये हैं — दृश्य और श्रव्य। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत नाटक आदि बारह प्रकार के रूपक[1] और १८ उपरूपकों[2] की गणना की जाती है। श्रव्यकाव्य के तीन भेद किये गये हैं — पद्य, गद्य और चम्पू। गत्यर्थक √ पद् धातु से निष्पन्न 'पद्य' शब्द गति की प्रधानता सूचित करता है। अतः पद्य काव्य में ताल, लय या छन्द की व्यवस्था होती है। पुनः पद्यकाव्य के भी उपभेद किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं —

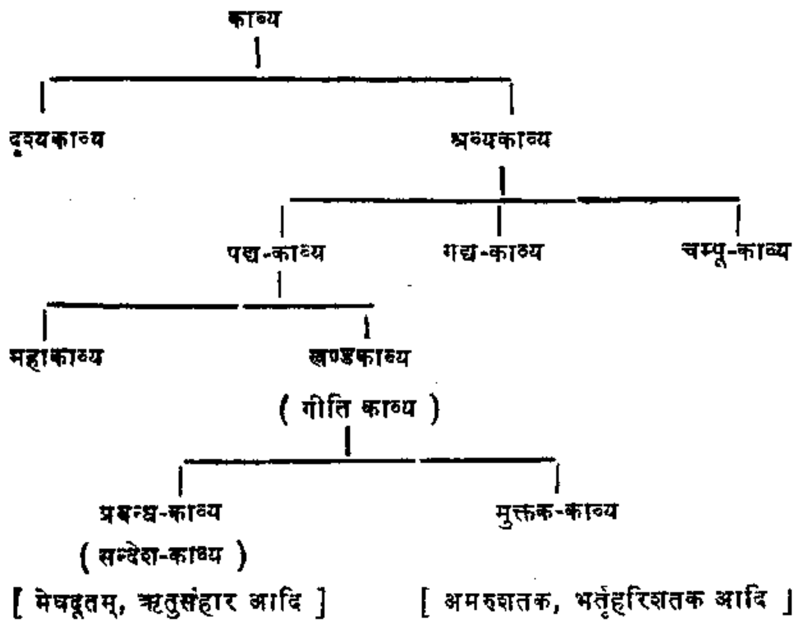

गीतिकाव्य में जीवन का सम्पूर्ण इतिवृत्त न होकर किसी एक अंश का वर्णन रहता है —

---

१. नाट्यदर्पण— एक समीक्षात्मक अध्ययन (धीरेन्द्र मिश्र)।

२. साहित्यदर्पण, ६/४-५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।"

साहित्यदर्पण (६/३२९ क)

गीति का अर्थ हृदय की रागात्मक भावना को छन्दबद्ध रूप में प्रकट करना अभिप्रेत है। जहाँ रागात्मकता या ध्वन्यात्मकता का होना 'धूम में अग्नि' की भाँति अनिवार्य है। गीति की आत्मा भावातिरेक है। कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से वर्ण्य-विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। 'स्व'–गम्य अनुभूति को पर'–गम्य अनुभूति के रूप में परिणत करने के लिए कवि जिन मधुर भावापन्न रससान्द्र उक्तियों को माध्यम बनाता है, वही होती हैं गीतियाँ। गीतिकाव्य में गीतात्मकता तो होनी ही चाहिए; किन्तु ऐसी पद्य-रचना जो कवि की आत्मानुभूति पर आधृत हो, अगेय होने पर भी गीतिकाव्य के भीतर समा जाती है; इसके विपरीत आत्मानुभूतिशून्य, बाह्याभिव्यंजक मात्र रचना भी गीति-काव्य के भीतर आ जाने से रह जाती है।

काव्य तथा संगीत — दो पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियाँ हैं। काव्य अपनी अभिव्यञ्जना के निमित्त संगीत का सहारा नहीं चाहता और संगीत भी अपने प्राकट्य के निमित्त काव्य का अवलम्बन नहीं चाहता, परन्तु दैवयोग से दोनों का एकत्र समन्वय कला की दृष्टि से एक अत्यन्त उत्कृष्ट अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है और गीति उसका एक मधुमय मोहन स्वरूप है। इन सब तत्त्वों के सहयोग से गीति काव्यरूपों में एक उत्कृष्ट काव्य-रूप है।

गीति-काव्य की परम्परा, स्फुट संदेश-रचनाओं के रूप में, वैदिक युग से ही प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद का सरमा नामक एक कुत्ते को प्राणियों के निकट संदेश-वाहक रूप में भेजने का प्रसंग यहाँ ध्यातव्य है। 'रामायण', 'महाभारत' और उनके परवर्ती काव्यों में भी इस प्रकार के स्फुट प्रसंग प्रचुर रूप में मिलते हैं। कदाचित् महामुनि वाल्मीकि के शोकोद्‌गारों में भी यह भावना या अनुभूति गोपित रूप में दिखाई देती है। पति-वियुक्ता प्रवासिनी सीता के प्रति प्रेषित राम का संदेशवाहक हनुमान, दुर्योधन के प्रति धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा प्रेषित श्रीकृष्ण और सुन्दरी दमयन्ती के निकट राजा नल द्वारा प्रेषित संदेशवाहक हंस इसी परम्परा के अन्तर्गत गिने जाने वाले पूर्व प्रसंग हैं। इस दिशा में 'भागवत' का वेणुगीत विशेष रूप से उद्धरणीय है, जिसकी रस-विभोर कर देने वाली सुन्दर भावना की छाप संस्कृत के गीत ग्रन्थों पर स्पष्टतया अंकित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ ध्यातव्य है कि जो लोग रस की पुष्टि के लिए प्रबन्धकाव्य को उत्तम साधन स्वीकार करते या समझते हैं, उन्हें आनन्दवर्धन की यह उक्ति नहीं भुलानी चाहिए — "मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु इव रसबन्धनाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते" ।

प्रबन्धकाव्य के संदेश-काव्य या दूत-काव्य की परम्परा में 'मेघदूत' और 'घटकर्पर-काव्य' ही पहिली कृतियाँ हैं। उभय काव्यों में किसकी रचना पहिले हुई, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वैतालभट्ट, घटकर्पर और कालिदास को विक्रमादित्य की विद्वत्सभा का भूषण माना गया है। इस नामावली में घटकर्पर को पहिले और कालिदास को बाद में रखा गया है।[1] छन्द-रचना की दृष्टि से ही कदाचित् यह पूर्वापर का क्रम रख गया हो; और इसके अतिरिक्त कथंचित् इसमें भी संदेह है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' की उक्त बात सर्वथा कल्पित हो।

'घटकर्पर-काव्य' के अन्तिम श्लोक में कवि ने प्रतिज्ञा की है कि जो भी कवि इससे उत्तम काव्य की रचना कर देगा, उसके लिए वह कर्पर (टुकड़ा) पर पानी भर कर ला देगा। कवि की इसी प्रतिज्ञा पर काव्य का ऐसा नामकरण हुआ और सम्भवतया इस नामकरण पर ही उसके निर्माता की भी 'घटकर्पर' नाम से प्रसिद्धि हुई।

नई-नई शताब्दियों में प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करना काव्य की महत्ता का स्पष्ट सूचक होता है। उक्त दोनों कवियों के बाद महाकवि भवभूति ने अपने 'मालतीमाधव' में माधव के द्वारा मालती के समीप मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना का अनुसरण किया। इसके पश्चात् सन्देशकाव्यों की प्रणयन परम्परा में जैन कवियों का बड़ा योग एवं उत्साह रहा है। जैनकवि 'जिनसेन' (८१४ ई०) ने २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के जीवनचरित पर चार सर्गों में एक 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना की। आचार्य जिनसेन का कार्य इस दृष्टि से नितान्त श्लाघ्य है, जिन्होंने मेघदूत के समस्त पद्यों के समग्र चरणों की पूर्ति की। इस काव्य में ३६४ पद्यों में 'मेघदूत' के लगभग १२० श्लोक सम्मिलित हैं।

---

१. संस्कृत साहित्य का (संक्षिप्त) इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ० ६०७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार विक्रम कवि ने, जिनके समय, निवास-स्थान और सम्प्रदाय आदि के बारे में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है, स्वामी नेमिनाथ के जीवन पर 'नेमिदूत' काव्य लिखा। 'नेमिदूत' में भी प्रायः प्रत्येक श्लोक का अन्तिम पाद मेघदूत से लिया गया है; जिसे कवि ने स्वयं इस प्रकार स्पष्ट किया है —

सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
दन्त्यं पादं सुपदरचितान्मेघदूताद् गृहीत्वा।
श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः॥

मध्यकालीन जैन कवियों में बृहत्तपागच्छीय चरित्रसुन्दरगणि (१४८४) द्वारा लिखित धार्मिक एवं नैतिक विषयों से सम्बद्ध 'शीलदूत' और किसी अज्ञात कवि का 'चेतोदूत' इस परम्परा में उद्धरणीय ग्रन्थ हैं। खरतरगच्छीय कवि विमलकीर्ति (१७वीं श०) का 'चन्द्रदूत' इस परम्परा में उल्लेखनीय काव्य है। एक विज्ञप्ति के रूप में उपाध्याय मेघविजय का 'मेघदूत-समस्या' लेख (१२२७ वि० में रचित) कुछ कम महत्त्व का काव्य है।

समस्यापूर्ति वाले इन दूतकाव्यों को छोड़कर जैन कवियों की इस विषय में स्वतन्त्र रचनाएँ भी हैं, जिनमें जैनमेघदूत का स्थान निःसन्देह अत्यन्त ऊँचा है। जैनमेघदूत चार सर्गों में विभक्त है, जिनमें श्लोकों की कुल संख्या १९६ है। इसका विषय-वस्तु नेमिदूत में वर्णित नेमिकुमार की प्रव्रज्या लेने पर राजीमती का उनके पास मेघ को दूत बनाकर अपनी विरह-दशा का सन्देश भेजना है। मेघदूत की शैली पर निबद्ध यह काव्य विरह की अभिव्यक्ति में तथा भावों के प्रकटीकरण में मेघदूत का ऋणी है। नेमिकुमार की प्रव्रज्या के समाचार से नितान्त क्षुब्धहृदया राजीमती मेघ को देखकर इन शब्दों में अपनी मनोव्यथा प्रकट कर रही है —

"एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो,
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यराङ्क्षी-
तुर्यं स्यात्याश्च चलति पथो मानसं भावि हा किम्॥"
जैनमेघदूत, १/४

मेरुतुंग के लगभग दो शताब्दी बाद वादिचन्द्र ने 'पवनदूत' नामक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक स्वतन्त्र दूतकाव्य की रचना की। मेघदूत के समान यह भी मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है। इसकी कथावस्तु उज्जयिनी के राजा विजय तथा उनकी रानी तारा से सम्बन्ध रखती है। अशनिवेग नामक एक विद्याधर रानी तारामती का अपहरण कर लेता है। राजा पवन के द्वारा रानी को अपना सन्देश भेजता है और मार्ग में पड़ने वाले नदी, पर्वत तथा नगरों में निवास करने वाली स्त्रियों तथा उनकी विलासवती चेष्टाओं का सजीव वर्णन करता है। इस काव्य के अध्ययन से कवि की बहुमुखी प्रतिभा स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

जहाँ तक संदेश-काव्यों की प्रौढ़ परम्परा का प्रश्न है, तो वह १३ वीं शताब्दी से हुआ। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१२ वीं शताब्दी) के सभा-पण्डित एवं सुप्रसिद्ध कवि जयदेव के सहकारी विद्वान् धोयी का 'पवनदूत' तथा इसी शताब्दी में ही अवधूतराम योगी ने 'सिद्धदूत' की रचना की। अब्दुल रहमान नामक एक मुसलमान कवि की अपभ्रंश भाषा में रचना 'सन्देशरासक' नामक सुन्दर दूतकाव्य भी इसी शताब्दी का है। १६वीं शताब्दी में माधवकवीन्द्र भट्टाचार्य रचित 'उद्धवदूत' तथा गौडीय सम्प्रदाय के विद्वान् रूपगोस्वामी (१७वीं शताब्दी) रचित 'उद्धवसन्देश' काव्य स्मरणीय है। इसी शताब्दी में श्रीरुद्रन्याय वाचस्पति ने 'पिकदूत' तथा वंगदेशीय राजा रघुनाथ राय (१६३७-१६५० शक) की आज्ञा से श्रीकृष्ण सार्वभौम ने 'पादाङ्कदूत' की रचना की। इसी परम्परा का व्यापक विस्तार आगे लम्बोदर वैद्य ने 'गोपीदूत', त्रिलोचन ने 'तुलसीदूत' (१७३० ई०), वैद्यनाथ द्विज ने एक दूसरा 'तुलसीदूत', हरिदास ने 'कोकिलदूत' (१७१७ शक), सिद्धनाथ विद्यावागीश ने १७वीं शताब्दी के लगभग 'पवनदूत', कृष्णनाथ न्यायपंचानन ने 'वातदूत' (१७वीं शताब्दी), एक आधुनिक कवि भोलानाथ ने 'पांथदूत', रामदयालतर्करत्न ने 'अनिलदूत', अम्बिकाचरण देवशर्मा ने 'पिकदूत', गोपालशिरोमणि ने एक प्रहसन-रचना 'काकदूत' (१८११ शक), गोपेन्द्रनाथ स्वामी ने १७वीं शताब्दी के लगभग 'पादपदूत', १९वीं शताब्दी के अन्त में त्रैलोक्य-मोहन ने 'मेघदूत', कालीप्रसाद ने 'भक्तिदूत', रामगोपाल ने 'काकदूत' (१७१८ शक में रचित), महामहोपाध्याय अजितनाथ न्यायरत्न ने बंग संवत् १३२६ में 'बकदूत' और रघुनाथदास ने १७वीं शताब्दी के आसपास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'हंसदूत' आदि संदेश-काव्यों को रचकर किया ।[1]

इसी प्रकार तमिल के उदण्ड नामक एक कवि (१४वीं शताब्दी) ने मालवार के कालीकट-स्थित जमोरिन के आश्रम में रहकर 'मेघदूत' की शैली का एक गीतिपरक प्रेमकाव्य 'कोकिलसंदेश' का निर्माण किया था। इसी प्रसंग में 'मेघदूत' के अक्षरशः अनुकरण पर लिखा हुआ वामनभट्ट बाण (१५वीं श०) का 'हंससंदेश' भी उल्लेखनीय है। इसी श्रेणी के कुछ कम प्रभावोत्पादक संदेश-काव्यों में पूर्ण सरस्वती का 'हंससंदेश', विष्णुत्राता (१६वीं श०) का 'कोकसंदेश', वासुदेव कवि (१७वीं श०) का 'मृगसंदेश' और विनयविजयगणि का 'इन्द्रदूत', तैलंग व्रजनाथ का 'मनोदूत', भगवद्दत्त का 'मनोदूत' और लक्ष्मीनारायण का 'रथांगदूत' भी इसी कोटि के हैं।

संस्कृत में लिखे गये 'दूतकाव्यों' की इस दीर्घ परम्परा के अवलोकन से दूतकाव्यों की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इण्डिया ऑफिस लन्दन के सूचीपत्र में संस्कृत और प्राकृत के अनेक अप्रकाशित 'दूतकाव्यों' का उल्लेख देखने को मिलता है। इससे भी दूतकाव्यों की लोकप्रियता का रहस्योद्घाटन होता है।

इस प्रकार समस्त दूत-काव्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) जैनेतर दूत-काव्य और (२) जैन-दूत-काव्य। अकारादि वर्णक्रमानुसार जैनेतर दूतकाव्यों एवं जैन दूतकाव्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जैनेतर दूतकाव्य

अनिलदूतम्

प्राच्य वाणी मन्दिर, कलकत्ता की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची के अनुसार 'अनिलदूत' श्री रामदयाल तर्करत्न की कृति है, जो कुछ ही अंशों में प्राप्त है। प्राप्त अंश के आधार पर इसकी कथा-वस्तु — कृष्ण के मथुरा चले जाने पर एक गोपी द्वारा अपनी विरह-व्यथा को कृष्ण के पास पहुँचाने के लिए अनिल (वायु) को दूत बनाना — है।

---

१. संस्कृत साहित्य का (संक्षिप्त) इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ० ६०९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब्ददूतम्

श्रीकृष्णचन्द्रकी कृति 'अब्ददूतम्' सम्प्रति अप्रकाशित ग्रन्थों की सूची में है। इस काव्य के १४९ पद्यों में श्री राम के द्वारा मलय पर्वत पर विचरण करते हुए आकाश में मेघ को देखकर उनका विह्वल हो जाना तथा अब्द (मेघ) को दूत बनाकर सीता के पास अपना सन्देश भेजना इस काव्य का प्रतिपाद्य-विषय है।

अमरसन्देश

श्री गुस्तोव आपर्ट द्वारा संकलित दक्षिण भारत के निजी पुस्तकालय के 'संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची' (भाग २, संख्या ७८०५) में इस काव्य का उल्लेख मात्र है। किन्तु इसके रचयिता के विषय में वहाँ कुछ भी नहीं कहा गया है।

उद्धवदूतम्

माधवकवीन्द्र भट्टाचार्य की इस कृति के १४१ श्लोकों में, कृष्ण के द्वारा अपने माता-पिता तथा गोपियों को सान्त्वना देने के निमित्त उद्धव को दूत बनाकर वृन्दावन भेजना "गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नः प्रीतिमवाह। गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय।।" एवं वृन्दावन से एक गोपी का सन्देश लेकर उद्धव का कृष्ण के पास पहुँचना, वर्णित है। इसकी कथावस्तु श्रीमद्-भागवत से सम्बद्ध है।

उद्धवसन्देश

श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा उनके काव्य-संग्रह के तृतीय भाग के तृतीय संस्करण (१९८८ में कलकत्ता से प्रकाशित) के अनुसार रूपगोस्वामी (१६वीं शताब्दी) की इस कृति के १३८ पद्यों में, विरह-व्याकुल कृष्ण के द्वारा स्वयं को तथा विरहपीडिता गोपिकाओं को सान्त्वना देने के निमित्त उद्धव को सन्देश-वाहक बनाकर वृन्दावन भेजना, वर्णित है। इसकी कथावस्तु कृष्ण-कथा पर आधारित है।

कपिदूतम्

'कपिदूतम्' की एक खण्डित हस्तलिखित प्रति 'ढाका विश्वविद्यालय' के पुस्तकालय में उपलब्ध है। किन्तु इसके लेखक आदि का नाम अद्यावधि अज्ञात है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काकदूतम्

श्री गौर गोपाल शिरोमणि कृत भक्ति-परक इस काव्य में, विरह-पीडिता राधा के द्वारा काक (कौआ) को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजना, वर्णित है। इसकी विशेष जानकारी के लिए 'बंगीयदूतकाव्येतिहासः' द्रष्टव्य है।

काकदूतम्

नाम की समानता होने पर भी इसका वर्ण्य-विषय गौर गोपाल शिरोमणिकृत 'काकदूत' से सर्वथा भिन्न है। नैतिकता की शिक्षा देने के विचार से समाज पर रचे गये व्यङ्ग्यपरक इस काव्य में कारागार में बन्द एक ऐसे ब्राह्मण की गाथा है, जो काक (कौआ) को दूत बनाकर अपना सन्देश अपनी प्रेयसी (ब्राह्मणी) के पास भेजता है। किन्तु इसके रचयिता का नाम अज्ञात है (द्रष्टव्य : कृष्णमाचारिकृत संस्कृत साहित्य का इतिहास)।

काकदूतम्

सहृदयम्, संस्कृत मासिक पत्रिका, मद्रास (भाग २३, पृ० १७३) में इस काव्य का उल्लेख किया गया है, जो वस्तुतः पूर्वोक्त दोनों 'काकदूत' से भिन्न तो है, परन्तु यह किसकी रचना है और इसकी कथावस्तु क्या है ? यह सब काल के गर्त में पड़ा हुआ है।

कीरदूतम्

'कीरदूत' के १०४ पद्यों में कृष्ण-विरह-पीडिता गोपियों के द्वारा मथुरा-वासी कृष्ण को अपना सन्देश पहुँचाने के निमित्त कीर (तोता) को दूत रूप में भेजना इस काव्य का प्रतिपाद्य विषय है। कवि का नाम श्री रामगोपाल है तथा ग्रन्थ अप्रकाशित है, जो श्री हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संकलित 'संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची' (भाग १, पृ० ३९, संख्या ३७) में अनूदित है।

कीरदूतम्

संस्कृत के सन्देश-काव्य (राम कुमार आचार्य, परि० २) के अनुसार इसके रचयिता वरदराजाचार्य हैं। शेष अज्ञात है। सम्प्रति इस काव्य की हस्तलिखित प्रति भी अप्राप्त है, किन्तु मैसूर की गुरुपरम्परा में 'कीरदूत' का उल्लेख किया गया है।

कोकसन्देश

इस काव्य का विभाजन दो भागों में है — प्रथम भाग में १२० पद्य

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

तथा द्वितीय भाग में १८६ पद्य हैं। इस काव्य में विद्यापुर का राजकुमार एक बार एक यान्त्रिक से प्राप्त एक ऐसे यन्त्र को अपने सिर से स्पर्श करता है जिसके कारण वह अपने देश तथा अपनी प्रिया से बहुत दूर चला जाता है। फलस्वरूप विरह-व्यथा से सन्तप्त वह राजकुमार अपने सन्देशवाहक के रूप में एक ऐसे कोक (चक्रवाक पक्षी) को नियुक्त करता है, जो स्वयं रात्रि में प्रिया-विरह से विह्वल रहता है। इसका कारण सम्भवतः एक विरही का दूसरे विरही की दशा से परिचित होना है। इसीलिए राजकुमार ने चक्रवाक पक्षी को अपना सन्देशवाहक नियुक्त किया। इस काव्य के प्रणेता का नाम कवि विष्णुत्राता है।

कोकिलदूतम्

मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध इस काव्य के १०० पद्यों में, कृष्ण-विरह-पीडिता गोपियों द्वारा अपना सन्देश कृष्ण तक पहुँचाने के लिए कोकिल को दूत बनाकर मथुरा भेजना, वर्णित है। 'कोकिलदूत' के कर्ता कवि हरिदास का समय शक सं० १७७७ है।

कोकिल-सन्देश

उदण्ड कवि (१५ वीं शताब्दी) कृत इस लघु कृति में प्रिया-विरही एक नायक द्वारा अपना सन्देश केरल स्थित अपनी प्रिया के पास कोकिल द्वारा भेजना वर्णित है।

कोकिल-सन्देश

श्री वेंकटाचार्य कृत इस काव्य का वर्ण्य-विषय एक विरही नायक का अपना सन्देश अपनी प्रेयसी तक पहुँचाने के लिए कोकिल को दूत रूप में बनाकर भेजना है। यह काव्य सम्प्रति अप्रकाशित है।

कोकिल-सन्देश

कवि गुणवर्धन कृत इस काव्य का उल्लेख 'सिलोन ऐण्टिक्वेरी' (भाग ४, पृ० १११) में किया गया है। पूर्वोक्त काव्यों की अपेक्षा इसमें भिन्नता इस बात की है कि इसमें नायिका द्वारा नायक के पास अपना सन्देश पहुँचाने के लिए कोकिल को दूत बनाया गया है।

कृष्णदूतम्

अड्यार पुस्तकालय की 'हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की सूची' (भाग २, संख्या ४) के अनुसार 'कृष्णदूत' के कर्ता कवि नृसिंह हैं। इस काव्य में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृष्ण का दूत रूप में चित्रण किया गया है।

गरुड़सन्देश

'कृष्णमाचारि' कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में इस काव्य के कर्ता का नाम कवि वल्लंकोड रामराय बताया गया है तथा ग्रन्थ अप्रकाशित है।

गरुड़सन्देश

कवि नृसिंहाचार्य कृत इस काव्य का नामोल्लेख राम कुमार आचार्य कृत 'संस्कृत के सन्देशकाव्य' (परिशिष्ट २) में किया गया है। शेष अज्ञान का विषय बना हुआ है।

गोपीदूतम्

इस काव्य का नामकरण दूत-सम्प्रेषण कर्त्री (गोपी) के आधार पर किया गया है। कृष्ण के मथुरा जाते समय कृष्ण का अनुगमन करती हुई निष्फल हो गई गोपियों द्वारा कृष्ण के रथ-चक्र से उड़ाई गई धूलिकण के माध्यम से अपना, सन्देश कृष्ण तक पहुँचाना इस काव्य का वर्ण्य-विषय है। यहाँ ध्यातव्य है कि यह काव्य कुछ ही अंशों में उपलब्ध है, जो सम्प्रति अप्रकाशित है ('काव्य-संग्रह', जीवानन्द विद्यासागर, पृ० ५०७-५३०)। कवि का नाम लम्बोर वैद्य है।

घटकर्पर

इसके रचयिता का नाम पूर्व में जो भी रहा हो, किन्तु काव्य के वर्ण्य-विषय के आधार पर ही अर्थात्, इस कृति से अच्छी रचना यदि कोई कर दे तो मैं (कवि) घट = घड़ा, कर्पर = घड़े का सबसे ऊपरी भाग जिसे कान भी कहा जा सकता है उसके टुकड़े में पानी भरकर ला दूँगा, अक्षरशः सत्य है। और इसी आधार पर कवि का वास्तविक नाम लुप्त होकर उनका (कवि का) नाम ही 'घटकर्पर' हो गया। घटकर्पर कवि जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कालिदास के समकालीन थे। इस काव्य में कुल पद्यों की संख्या २२ है।

घनवृत्तम्

दाक्षिणात्य कवि कोरद रामचन्द्रन कृत 'घनवृत्त' की कथावस्तु कालिदास कृत 'मेघदूत' के उत्तर मेघ से ली गई है। दाक्षिणात्य कवि होने के कारण इस काव्य का उपलब्ध संस्करण तेलुगू लिपि में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चकोरदूतम्

आधुनिक काल में लिखे गये गीति-काव्य की परम्परा में बिहार प्रान्त के पं० वागीश झा का 'चकोरदूत' उच्चकोटि का दूतकाव्य है। इस काव्य का उल्लेख प्रो० वनेश्वर पाठक रचित 'प्लवङ्गदूत' की भूमिका (पृ० २७) में किया गया है।

चकोरदूतम्

राम कुमार आचार्य प्रणीत 'संस्कृत के सन्देशकाव्य' (परिशिष्ट १) के अनुसार इस काव्य के कर्ता का नाम कविवासुदेव है। इस अनुपलब्ध काव्य का वर्ण्य-विषय क्या है ? इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

चकोरसन्देश

ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट, लाइब्रेरी, मद्रास में 'हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची पत्र' (भाग २७, संख्या ८४९७), एवं तंजौर पैलेस, लाइब्रेरी के 'हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची-पत्र' (भाग ७, संख्या २८६६) में इस काव्य को कवि पेरुसूरि की कृति कहा गया है, किन्तु इस काव्य का वर्ण्य-विषय क्या है ? यह अद्यावधि अज्ञात है।

चकोरसन्देश

वेङ्कटकवि लिखित इस काव्य का उल्लेख ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट, लाइब्रेरी मैसूर के 'हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची-पत्र' (संख्या २४६) में हुआ है। सम्प्रति यह काव्य अप्रकाशित है।

चक्रवाकदूतम्

विविध छन्दों में निबद्ध ११२ पद्यों वाले इस काव्य में एक विरह-पीडिता राजकुमारी अपना सन्देश अपने प्रेमी तक पहुँचाने के लिए दूत रूप में चक्रवाक पक्षी को नियुक्त करती, है, जो पक्षी प्रेमी का अन्वेषण कर प्रेमी और प्रेमिका को मिला देता है। कवि म्युतनकुञ्ज रचित इस अप्रकाशित दूतकाव्य का उल्लेख 'ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ' में जावा के 'हिन्दू-साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय' नामक लेख में हुआ है।

चन्द्रदूतम्

हस्तलिखित रूप में उपलब्ध राम-भक्ति पर आधारित यह काव्य श्री-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृष्ण तर्कालंकार की कृति है। इस काव्य में श्रीराम का सन्देश लंका की अशोक वाटिका-स्थित सीता तक पहुँचाने का कार्य चन्द्रमा करता है।

चन्द्रदूतम्

कुल २६ पद्यों वाले इस काव्य के रचयिता जम्बू कवि विनयप्रभसूरि हैं, जहाँ चन्द्र के माध्यम से दौत्य-कर्म सम्पादित कराया गया है। यह काव्य प्रकाशित है।

चातकसन्देश

'जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी' (१८८१) के 'सूची-पत्र' में इस काव्य का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार १४१ पद्यों वाले अज्ञात कवि की इस कृति में नायिका का सन्देश त्रिवेन्द्रम नरेश तक पहुँचाने का कार्य चातक पक्षी करता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अपूर्ण ही प्राप्त है।

झंझावात

श्री श्रुतिदेव शास्त्री रचित (१९४२) राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत इस काव्य का वर्ण्य-विषय, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बर्लिन-स्थित सुभाषचन्द्र बोस द्वारा रात्रि में उत्तर दिशा से आते हुए झंझावात (बवण्डर) को रोककर उसके द्वारा अपना सन्देश भारतीयों तक पहुँचाना, है। सम्प्रति यह काव्य 'संस्कृत साहित्य परिषद्', कलकत्ता के पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है।

तुलसीदूतम् (सन् १७३० ई०)

कृष्ण-कथा पर आधारित ५५ पद्यों वाले इस काव्य के रचयिता त्रिलोचन कवि हैं। इस काव्य में कृष्ण-विरह-पीडिता एक गोपी (राधा) वृन्दावन में प्रवेश कर एक तुलसी-वृक्ष के माध्यम से अपना सन्देश कृष्ण तक पहुँचाती है। यद्यपि यह ग्रन्थ अप्रकाशित है, किन्तु यह काव्य 'संस्कृत साहित्य परिषद्', कलकत्ता के पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में प्राप्य है।

तुलसीदूतम् (शक संवत् १७०६)

प्राच्य वाणी मन्दिर, कलकत्ता के ग्रन्थाङ्क १२७ के (हस्तलिखित) रूप में उपलब्ध यह काव्य श्री वैद्यनाथ द्विज की कृति है। इसका वर्ण्य-विषय भी पूर्वोक्त 'तुलसीदूत' की तरह है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाय्वूहसन्देश

त्रावणकोर की 'संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थ सूची' (ग्रन्थाङ्क १९५) के अनुसार यह काव्य कवि नारायण की कृति है। काव्य के अनुपलब्ध होने से वर्ण्य-विषय अज्ञात है।

दूतवाक्यम्

महाकवि भास प्रणीत दूत-वाक्य का वर्ण्य-विषय; युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण को दूत बनाकर सन्धि का प्रस्ताव दुर्योधन के पास भेजना तथा दुर्योधन द्वारा अपमानित कृष्ण का दुर्योधन को उसके विनाश एवं महाभारत की सूचना देना, है।

दूत-घटोत्कच

महाकवि भासकृत इस काव्य का वर्ण्य-विषय, महाभारत अवश्यम्भावी हो जाने पर भीम-पुत्र घटोत्कच को दूत रूप में दुर्योधन के पास भेजना तथा दुर्योधन द्वारा उसकी अवहेलना और घटोत्कच आदि का युद्ध के निमित्त तैयार हो जाना, है। यहाँ ध्यातव्य है कि भास रचित उक्त दोनों कृतियाँ राजनीति प्रधान हैं तथा इतिवृत्त महाभारत से लिया गया है।

देवदूतम्

'जैन सिद्धान्त' (भाग २, किरण १) में इस काव्य का उल्लेख किया गया है, किन्तु इसका रचयिता एवं वर्ण्य-विषय आदि सम्प्रति अज्ञान का विषय बना हुआ है।

नलचम्पू

त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' का वर्ण्य-विषय, राजा नल तथा विदर्भ नरेश की पुत्री दमयन्ती द्वारा परस्पर अपने मनोगत भावों को एक दूसरे तक पहुँचाने के लिए 'हंस' पक्षी को दूत बनाकर पहिले राजा नल द्वारा अपना सन्देश दमयन्ती तक पहुँचाना, पुनः दमयन्ती द्वारा उसी हंस को दूत बनाकर अपना सन्देश राजा नल के पास भेजना, है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। प्रकाशित होने के कारण इसके वर्ण्य-विषय को यहाँ विस्तृत रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। विस्तृत जानकारी के लिए इस मूल काव्य को ही देखना चाहिए। इसकी कथा वस्तु का विभाजन सात उच्छ्वासों में किया गया है जिसमें ३७७ पद्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्मदूतम्

सिद्धनाथ विद्यावागीशकृत इस काव्य का वर्ण्य-विषय, श्रीराम का पुल बनाने के निमित्त सागर तट पर पहुँचने के समाचार को जानकर लंका में अशोक-वाटिका स्थित सीता की मिलनोत्कण्ठा का तीव्र हो जाना, किन्तु दूर देश स्थित होने के कारण तत्काल सम्भव नहीं होने से उसी समय सागर में बह रहे एक कमल-पुष्प को दूत बनाकर अपना सन्देश श्रीराम तक पहुँचाना, है।

पदाङ्कदूतम्

कुल ४६ पद्यों में निबद्ध (४५ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द तथा ४६ वाँ पद्य शार्दूलविक्रीडित छन्द) यह कृति बङ्गकवि महामहोपाध्याय कृष्ण सार्वभौम की है। साहित्य, भक्ति तथा दर्शन रूपी त्रिविध धाराओं की संगम वाली इस कृति का वर्ण्य-विषय कृष्ण-विरह-पीडिता यमुना तट पर आयी हुई उस एक गोपी की विरह गाथा है, जो अपना सन्देश रथ, घोड़े आदि के पदचिह्नों के माध्यम से कृष्ण तक पहुंचाना चाहती है। इसकी कथावस्तु श्रीमद्भागवत की कथा से सम्बद्ध है। इस काव्य का रचना काल शक संवत् १६४५ है।

पदाङ्कदूतम्

'इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, (भाग ७, ग्रन्थाङ्क १४६७) के आधार पर इस काव्य के प्रणेता कवि भोलानाथ हैं। सूची-पत्रों में ही अनूदित होने से इस काव्य का वर्ण्य-विषय अज्ञात है।

पवनदूतम्

विप्रलम्भ शृङ्गार प्रधान १०० पद्यों वाली इस कृति का वर्ण्य-विषय है—कनक नामक नगरी (जो गन्धर्वों की नगरी थी वहाँ) की कुलवयती नाम्नी गन्धर्व युवती विजय यात्रा पर निकले हुए राजा लक्ष्मण सेन पर अनुरक्त हो जाती है। वहाँ से राजा के लौट आने के बाद विरह-पीडिता वह गन्धर्व युवती अपना सन्देश बसन्त ऋतु में दक्षिण दिशा में बहने वाली वायु को दूत बनाकर राजा लक्ष्मण सेन के पास भेजती है। यह कृति कवि 'धोयी' की है।

पवनदूतम्

कृष्णमाचारि रचित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में इस काव्य को जी० बी पद्मनाभ की कृति कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पादपदूतम्

'गोपेन्द्र नाथ स्वामी' रचित इस काव्य में कुल ३४ पद्य हैं जिसमें, विष्णुप्रिया नाम्नी एक ऐसी नायिका, जो अपने प्रिय के पास अपना सन्देश पहुँचाने के लिए दौत्य-कार्य सम्पादित करने हेतु अपने आङ्गन स्थित एक नीम वृक्ष को अपना सन्देश सुनाती है, वर्णित है।

पान्थदूतम्

सन् १९४९ में प्राच्य वाणी पत्रिका, कलकत्ता; भाग ६ में मूल मात्र प्रकाशित इस काव्य के रचयिता कवि भोलानाथ हैं। कुल १०५ पद्यों के द्वारा इसमें एक ऐसी गोपबाला की विरह-पीड़ा का वर्णन किया गया है, जो यमुना तट पर कृष्ण को न देख मूच्छित हो जाती है तथा मूर्च्छा समाप्त होने के बाद मथुरा जाते हुए एक पान्थ (पथिक) को देख उसे ही अपना सन्देशवाहक बनाकर कृष्ण के पास भेजती है।

पिकदूतम्

'ढाका विश्वविद्यालय' से प्राप्त ३१ पद्यों वाले इस काव्य की एक प्रतिलिपि, के आधार पर इसके रचयिता 'श्री रुद्रन्याय पञ्चानन' हैं। साथ ही प्राच्य वाणी पत्रिका, कलकत्ता के द्वितीय भाग में 'श्री अनन्त लाल ठाकुर' द्वारा सन् १९४५ में यह दूतकाव्य प्रकाशित भी हो चुका है। इस काव्य में कृष्ण-विरह-पीडिता राधा पिक (कोयल) को दूत बनाकर कृष्ण के पास अपना सन्देश भेजती है।

पिकदूतम्

'प्राच्य वाणी मन्दिर', कलकत्ता (कुछ अंश हस्तलिखित रूप) में उपलब्ध इस दूतकाव्य के प्रणेता कवि 'अम्बिकाचरणदेव शर्मा' हैं। उपलब्ध अंश से विदित होता है कि इस काव्य में किसी गोप कन्या, जो कृष्ण-विरह-पीडिता थी, वह अपनी विरह-व्यथा पिक के माध्यम से कृष्ण तक पहुँचाना चाहती है, की विरह-व्यथा वर्णित है।

पिकदूतम्

इस दूत-काव्य के प्रणेता का नाम अद्यावधि अज्ञात है; किन्तु इसकी पाण्डुलिपि 'श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती'; कलकत्ता के व्यक्तिगत पुस्तकालय में सुरक्षित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिकसन्देश

कवि 'ब्रह्मदेव शर्मा' द्वारा रचित यह काव्य राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत है, जिसमें तत्कालीन भारत की दयनीय दशा का सन्देश पिक द्वारा एक मधुमक्खी को दूत बनाकर कवि के पास भेजा गया है।

पिकसन्देश

कवि 'रङ्गनाथाचार्य' रचित इस काव्य में भी पिक को दौत्यकर्म में नियुक्त किया गया है। वर्ण्य-विषय की जानकारी मुझे नहीं है।

पिकसन्देश

पूर्वोक्त 'पिकसन्देश' की भाँति तिरुपति निवासी 'श्री निवासाचार्य' कृत यह सन्देश-काव्य भी प्रकाशित है। वर्ण्य-विषय को वहीं देखना श्रेयस्कर होगा।

प्लवङ्गदूतम्

राँची विश्वविद्यालय, राँची के प्राध्यापक 'प्रो० वनेश्वर पाठक' की यह कृति पूर्व निःश्वास और उत्तर निःश्वास के रूप में विभक्त है। इसमें कुल पद्यों की संख्या ८० तथा ३४ है। 'सुबोध ग्रन्थमाला कार्यालय, राँची' से प्रकाशित है। इसका वर्ण्य-विषय भी वहीं द्रष्टव्य है।

मेघसन्देश-विमर्श

'कृष्णमाचार्य' की इस कृति के अवलोकन से परवर्ती गीति-काव्य पर महाकवि 'कालिदास' कृत 'मेघदूतम्' का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है, यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

बुद्धिसन्देश

'कृष्णमाचारि' लिखित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में इस गीति-काव्य का उल्लेख किया गया है तथा इसके रचयिता का नाम 'सुब्रह्मण्यं सूरि' कहा गया है।

भक्तिदूतम्

'श्री आर० एल० मिश्र' के 'संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची' (भाग ३, संख्या १०५१, पृ० २७) के अनुसार इसके प्रणेता 'श्री कालिचरण' हैं। कुल २३ पद्यों वाले इस लघु काव्य का वर्ण्य-विषय पति-विमुख मुक्ति नामक नायिका (जो कवि की प्रेयसी है) को मनाना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रमरदूतम्

'श्री रुद्रन्याय' रचित १२५ पद्यों वाले इस काव्य का वर्ण्य-विषय हनुमान द्वारा सीता का सन्देश पाकर विरह-व्याकुल श्री राम के द्वारा एक भ्रमर के माध्यम से सीता के पास अपना सन्देश पहुँचाना है। यह दूतकाव्य प्रकाशित है।

भृङ्गदूतम्

'मेघदूतम्' के आधार पर लिखे गये कवि 'कृष्णदेव' (वि० सं० १८ वीं) के इस काव्य का वर्ण्य-विषय कृष्ण-विरह-पीड़िता एक गोपबाला के द्वारा कृष्ण के पास अपनी विरह-दशा को भ्रमर के माध्यम से पहुँचाना है। इस काव्य का प्रकाशन 'नागपुर विश्वविद्यालय पत्रिका' (संख्या ३, सन् १९३७) में हो चुका है।

भृङ्गसन्देश

'वासुदेव' कवि (१८वीं शताब्दी) रचित १९२ पद्यों वाले इस काव्य का वर्ण्य-विषय विरही नायक द्वारा अपनी प्रियतमा तक अपना सन्देश भ्रमर के द्वारा पहुँचाना है, जिसका प्रकाशन 'त्रिवेन्द्रं संस्कृत सीरीज' से संवत् १९३७ में हो चुका है। 'भृङ्गसन्देश' नामक दो और काव्य, जो क्रमशः कवि 'गङ्गानन्द' (१५वीं शती का पूर्वार्द्ध) तथा 'श्रीमती त्रिवेणी' (संवत् १८४० से १८८३) द्वारा लिखित हैं। इन दोनों काव्यों की सूचना क्रमशः 'आफ्रेक्ट के कैटलागरम्' (भाग २, संख्या ३०) तथा 'संस्कृत के सन्देश काव्य' परिशिष्ट २ (राम कुमार आचार्य) से प्राप्त होता है।

मधुकरदूतम्

'राम कुमार आचार्य' लिखित 'संस्कृत के सन्देशकाव्य' (परिशिष्ट २) के अनुसार इस काव्य के रचयिता सेंट्रल कॉलेज, बंगलोर के संस्कृत-विभागाध्यक्ष (सन् १९२२ से ३४ तक) 'राजगोपालजी' हैं। वर्ण्य-विषय का मुझे ज्ञान नहीं है।

मधुरोष्ठसन्देश

मैसूर के 'संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचीपत्र' (ग्रन्थाङ्क ४५१) में इस काव्य का केवल नामोल्लेख हुआ है; जबकि शेष बातें अज्ञात हैं।

मनोदूतम्

'मनोदूत' नाम से सम्प्रति विभिन्न कवियों द्वारा रचित ६ दूतकाव्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का पता चला है। उक्त दूतकाव्यों में से 'विष्णुदास' रचित 'मनोदूत' का प्रतिपाद्य विषय विष्णुदास नामक व्यक्ति का अपने द्वारा किये गये पापों के परिणामों की कल्पना कर मन को दूत रूप में भगवान् के पास भेजना है। यह दूतकाव्य 'श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती' के सम्पादन में १९३७ में कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। 'श्री राम शर्मा' रचित 'मनोदूत' का आधार भागवत पुराण है, जिसमें पाने वाले एवं भेजने वाले की उक्ति प्रोक्ति रूप में प्राप्त होता है। 'हृदयदूत' के साथ इसका प्रकाशन कलकत्ता से हो चुका है। 'तैलङ्गव्रजनाथ' (१७वीं शताब्दी) लिखित 'मनोदूत' का प्रतिपाद्य विषय दुःशासन द्वारा चीरहरण की जाती हुई द्रौपदी का अपने मन को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजना है। इस दूतकाव्य का प्रकाशन 'निर्णय सागर प्रेस', बम्बई से हुआ है। 'इन्द्रेश भट्ट' (इन्दिरेश भट्ट) रचित 'मनोदूत' का प्रकाशन 'हृदयदूत' (भट्ट हरिहर) के साथ बम्बई से हुआ है। शेष दो 'मनोदूत' नामक काव्य में से एक का नामोल्लेख कश्मीर के 'हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची-पत्र' (पृ० १७० तथा पृ० २८७) में किया गया है; किन्तु इसके लेखक का नाम अज्ञात है तथा 'भगवद्दत्त' (वि० सं० १९६२) रचित ११४ पद्यों वाले 'मनोदूत' का उल्लेख जैन सिद्धान्त भास्कर (भाग ३, किरण १, पृ० ३७) में हुआ है।

मयूखदूतम्

'मारवाड़ी कॉलेज', रांची (बिहार) के संस्कृत-विभागाध्यक्ष 'प्रो० रामाशीष पाण्डेय' रचित मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध १११ पद्यों वाले 'मयूखदूत' का प्रतिपाद्य-विषय एक शोध छात्र द्वारा परदेश (इंग्लैण्ड) स्थित अपनी प्रिया के पास मयूख = सूर्य किरण को दूत बनाकर अपना सन्देश भेजना है। इसका प्रकाशन 'श्याम प्रकाशन, नालन्दा', (१९७४ ई०) बिहार से हो चुका है।

मयूरसन्देश

'मयूरसन्देश' नामक विभिन्न कवियों द्वारा रचित चार सन्देशकाव्यों में से दो का प्रकाशन हो चुका है तथा दो अप्रकाशित हैं। 'उदय' कवि रचित दो भागों में विभक्त क्रमशः १०७ एवं ९२ पद्यों वाले 'मयूरसन्देश' नामक काव्य का दक्षिण भारत के सन्देश-काव्यों में विशिष्ट स्थान है। काव्य के प्रथम पद्य (मालिनी छन्द) को छोड़कर शेष पद्यों का निबन्धन 'मन्दाक्रान्ता छन्द' में किया गया है। इसका प्रतिपाद्य-विषय श्रीकण्ठ के राजकुमार

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

द्वारा मयूर को दूत बनाकर अपना सन्देश अपनी प्रिया तक पहुँचाना है। 'मद्रास' से प्रकाशित द्वितीय 'मयूरसन्देश' के रचयिता 'श्रीनिवासाचार्य' हैं तथा 'अड्यार पुस्तकालय' के 'हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की सूची-पत्र' (भाग २, संख्या ८) के अनुसार तृतीय 'मयूरसन्देश' के प्रणेता 'श्री रङ्गाचार्य' हैं और चतुर्थ 'मयूरसन्देश' का नामोल्लेख मात्र 'ओरियण्टल लाइब्रेरी', मद्रास के 'हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की सूची-पत्र' (भाग ४; ग्रन्थाङ्क ४२९४) में हुआ है। लेकिन कवि का नाम अज्ञात है।

मानससन्देश

इस नाम के दो सन्देश-काव्यों (अप्रकाशित) में से प्रथम 'मानससन्देश' (ओरियण्टल हस्तलिखित पुस्तकालय, मद्रास के ग्रन्थाङ्क २९६४ के अनुसार) 'श्री वीर राघवाचार्य' (१८५५ से १९२०) की कृति है तथा द्वितीय 'मानससन्देश' (संस्कृत के सन्देश काव्य, राम कुमार आचार्य, परिशिष्ट २) के अनुसार 'श्रीलक्ष्मण सूरि' (१८५९-१९१९ ई०) की कृति है। आप 'पचप्पा कॉलेज', मद्रास में संस्कृत के प्राध्यापक थे।

मारुतसन्देश

'राम कुमार आचार्य' द्वारा इस सन्देशकाव्य का नामोल्लेख किया गया है, जब कि वे कवि आदि के बारे में मौन हैं।

मित्रदूतम्

पुस्तक भवन, राँची (बिहार) से प्रकाशित ९७ पद्यों वाले 'मित्रदूत' के प्रणेता 'प्रो० दिनेश चन्द्र पाण्डेय' (अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, राँची विश्वविद्यालय, बिहार) हैं। इस काव्य का प्रतिपाद्य विषय, एक छात्र, जो राँची विश्वविद्यालय का ही छात्र है तथा उसकी ऐसी प्रेयसी जो सहपाठिनी है, अपनी प्रेयसी पर इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि उसे विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया जाता है। पश्चात् वह (छात्रावास के समीप) टयगोर पर्वत के निकट आम्र-कुञ्ज में अवस्थित मन्दिर में अपने मन को बहलाने के लिए रहने लगा। एक दिन वहाँ अपने एक मित्र को देखकर उससे कश्मीर में रह रही अपनी सहपाठिनी प्रिया के पास अपना सन्देश पहुँचाने के लिए प्रार्थना करता है तथा वहाँ तक जाने में साधन के रूप में उपयोग की जाने वाली वस्तुओं को भी उससे, अर्थात् अपने मित्र से बताता है। विशेष के लिए उक्त दूतकाव्य को ही देखना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस दूतकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि जिस देश-काल-परिस्थिति में यह लिखा गया तदनुरूप अत्याधुनिक शब्दों का भी समावेश इस काव्य में किया गया है। उदाहरणार्थ—वह विरही छात्र अपने मित्र से यथाशीघ्र अपनी प्रिया के पास जाने का निवेदन करते हुए कहता है कि वहाँ जाने में तुम्हे विलम्ब न हो इसलिए वायुयान से ही तुम्हारा जाना अच्छा होगा—

स्थित्वा जम्मूनगरनिकटे वायुयानं त्वदीयम्।
एरोड्रामे कतिपयपलात् तद् विरम्यैव गच्छेत् ॥ ६३ ॥

किन्तु यथाशीघ्र वहाँ जाने का यह अर्थ नहीं कि भूखे-प्यासे ही वहाँ जाना है; अपितु रास्ते में—

चायं सोष्मं यदि वद सखे ! आहरिष्यामि तूर्णम्।
आनेया वा बहुरुचिकरा चोषितुं तेऽस्ति टॉफी ॥ ३३ ॥

मुद्गरदूतम्

'राम कुमार आचार्य' लिखित 'संस्कृत के सन्देश काव्य' (परिशिष्ट २) के अनुसार व्यङ्ग्यपूर्ण 'मुद्गरदूत' 'पं० रामगोपाल शास्त्री' की कृति है। समाज में फैले भ्रष्टाचार को ठोंक-ठोंककर ठीक कर देने के लिए कवि द्वारा गदा को इस काव्य में सन्देश दिया गया है।

मेघदूतम्

'मेघदूत' नामक तीन दूतकाव्यों में से महाकवि 'कालिदास' रचित 'मेघदूत' की प्रसिद्धि इतनी अधिक एवम् उस पर इतना अधिक कार्य विद्वानों द्वारा हो चुका है कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना शेष रह ही नहीं गया है। शेष दो 'मेघदूत' नामक काव्य में से 'विक्रम' कवि लिखित 'मेघदूत' का नामोल्लेख 'जैन ग्रन्थमाला' के श्वेताम्बर कॉन्फ्रेन्स पत्रिका (पृ० ३३२) में तथा 'लक्ष्मण सिंह' रचित 'मेघदूत' का नामोल्लेख जैन सिद्धान्त (भाग ३, किरण १, पृ० १८) में हुआ है। ग्रन्थ अनुपलब्ध होने से प्रतिपाद्य-विषय अज्ञात है।

मेघदौत्यम्

'त्रैलोक्यमोहन' की इस (अप्रकाशित) कृति का प्रतिपाद्य-विषय 'कालिदास' के 'मेघदूत' के अनुसार ही है; जिसमें प्रिया-विरह से व्याकुल एक यक्ष द्वारा अपना सन्देश अपनी प्रिया तक पहुँचाने के लिए मेघ को दूत बनाया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघप्रतिसन्देश

दाक्षिणात्य कवि 'मन्दिकल शास्त्री' (१९२३ ई०) रचित ६८ एवं ९६ पद्यों वाले दो सर्गों में विभक्त 'मेघप्रतिसन्देश' का वर्ण्य-विषय, एक विरही यक्ष द्वारा मेघ को सन्देश-वाहक बनाकर अलकापुरी में अपनी प्रिया यक्षिणी के पास भेजना तथा प्रिय-पीड़ा को सुनकर अत्यन्त व्यथित हृदय वाली यक्षिणी द्वारा उसी मेघ के माध्यम से उसे अपना सन्देश हस्त-संकेत से समझाकर यक्ष के पास भेजना, है।

यक्षमिलनकाव्य (प्रकाशन-वर्ष १९३० मद्रास)

महामहोपाध्याय श्री 'परमेश्वर झा' रचित ३५ पद्यों वाले इस काव्य में, जो 'कालिदास' के 'मेघदूत' पर ही लिखा गया है, देवोत्थान एकादशी के बाद यक्ष-यक्षिणी का मिलन एवं यक्ष-यक्षिणी की प्रणय-लीला इस काव्य का प्रतिपाद्य विषय है। यद्यपि 'कालिदास' कृत 'मेघदूत' से इसकी कथावस्तु सम्बद्ध है, फिर भी इस काव्य में ऐसा कुछ उपलब्ध नहीं होता, जिससे इसे दूत काव्य की श्रेणी में रखा जा सके।

रथाङ्गदूतम्

'श्री लक्ष्मीनारायण' लिखित यह काव्य, जो मैसूर से प्रकाशित है, के प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान मुझे नहीं है।

बकदूतम्

महामहोपाध्य 'अजीतनाथ न्यायरत्न' रचित २५० पद्यों वाले 'बकदूत' जिसकी मूल प्रति लेखक के पुत्र श्री 'शैलेन्द्रनाथ भट्टाचार्य' के पास सुरक्षित है— की कथावस्तु इतनी अधिक अव्यवस्थित है कि यही ज्ञान नहीं हो पाता कि दूत बनाकर किसे किसके समीप भेजा गया है। इतना ही नहीं इस अव्यवस्थित काव्य के बाद के ५० पद्य तो ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध इस काव्य से है ही नहीं। साथ ही इस काव्य को किसी भी दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता।

वाङ्मण्डनगुणदूतम्

सन् १९४१ में कलकत्ता से प्रकाशित 'श्रीवीरेश्वर' प्रणीत इस काव्य में कवि अपने सूक्त-गुण को दूत बनाकर राजा का आश्रय पाने के लिए राजा के पास भेजता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वातदूतम् (१८ वीं शताब्दी)

मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध १०० पद्यों वाले 'वातदूत' का प्रतिपाद्य विषय रावण से अपहृत अशोक वाटिका-स्थित सीता द्वारा वायु को दूत बनाकर अपना सन्देश राम के पास पहुँचाना, है। इसके रचयिता कवि 'कृष्ण नाथ न्याय पञ्चानन' हैं तथा इसका प्रकाशन सन् १८८६ में कलकत्ता से हो चुका है।

वायुदूतम्

इस काव्य का उल्लेख 'प्रो० मिराशी' ने अपनी पुस्तक 'कालिदास' (पृ० २५८) में किया है; किन्तु काव्य के साथ-साथ इसके कर्ता आदि का नाम भी अद्यावधि अज्ञान का विषय बना हुआ है।

विटदूतम्

यद्यपि इसके कर्ता का नाम सम्प्रति अज्ञात है, किन्तु इसकी हस्तलिखित प्रति 'आर्ष पुस्तकालय' विशाखापट्टनम् में सुरक्षित है।

विप्रसन्देश

कृष्ण-कथा पर आधारित महामहोपाध्याय 'श्री लक्ष्मणसूरि' रचित 'विप्रसन्देश' में रुक्मिणी द्वारा एक विप्र = ब्राह्मण के माध्यम से अपनी विरह-दशा को कृष्ण तक पहुँचाने की कथा वर्णित है। इस सन्देश काव्य का प्रकाशन तंजौर से सन् १९०६ में हुआ था। इसके अतिरिक्त 'कृष्णमाचारि' लिखित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (पृ० २५८) के अनुसार क्रैंगनोर निवासी 'कोचुन्नि तंबिरण' नामक कवि प्रणीत 'विप्रसन्देश' में सन्देश पहुँचाने के लिए विप्र = ब्राह्मण को सम्प्रेषित किया गया है। यह कृति अप्रकाशित है।

श्येनदूतम्

'श्येनदूत' नामक अप्रकाशित इस दूतकाव्य के प्रणेता 'नारायण' कवि हैं। इस दूतकाव्य में दौत्यकर्म को श्येन = बाज पक्षी के द्वारा सम्पन्न कराया गया है।

शिवदूतम्

'कृष्णमाचारि' रचित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में उल्लिखित 'शिवदूत' काव्य के कर्ता 'नारायण' कवि (तंजौर मण्डल के अन्तर्गत नदुकावेरी निवासी) हैं। यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि 'श्येनदूत' तथा 'शिवदूत' के कर्ता एक ही 'नारायण' कवि हैं अथवा दो भिन्न कवि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुकदूतम्

'श्री यादवेन्द्र' प्रणीत इस दूत काव्य का उल्लेख 'जैन सिद्धान्त भा०' (भाग २, किरण २, पृ० ६४) में हुआ है।

शुकसन्देश

इस नाम से उपलब्ध सन्देशकाव्यों में से 'लक्ष्मण दास' रचित 'शुक-सन्देश' (प्रकाशित) पूर्व तथा उत्तर सन्देश के रूप में दो भागों में विभक्त है। जिसमें कुल पद्यों की संख्या ७४ एवं ८९ है तथा कथावस्तु की योजना एक ऐसे प्रेमी की है, जो स्वप्नावस्था में ही शुक को दूत बनाकर अपना सन्देश अपनी प्रिया के पास भेजता है। यह कृति मंगलोदयं प्रेस, तंजौर से प्रकाशित है। दाक्षिणात्य कवि 'करिगंमपल्लि नम्बूदरी' प्रणीत 'शुकसन्देश' का उल्लेख 'हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की सूची' श्री गुस्तोव आपर्ट संकलित (ग्रन्थाङ्क २७२१ और ६२४१) में तथा 'रंगाचार्य' रचित 'शुकसन्देश' का उल्लेख 'संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची', बंगलौर (श्री लेविस राइस संकलित, ग्रन्थाङ्क २२५०) में और वेदान्तदेशिक के पुत्र 'श्री वरदाचार्य' की कृति 'शुकसन्देश' का उल्लेख 'राम कुमार आचार्य' लिखित 'संस्कृत के सन्देशकाव्य' (परिशिष्ट २) में हुआ है। ये तीनों कृतियाँ सम्प्रति अप्रकाशित हैं।

सिद्धदूतम्

'कालिदास' प्रणीत 'मेघदूत' की समस्यापूर्ति पर लिखे गए ग्रन्थ 'सिद्ध-दूत' के प्रणेता अवधूत 'राम योगी' हैं। इसका प्रकाशन १९१७ में पाटन से हुआ है।

सुभगसन्देश

१३० पद्यों वाला 'सुभगसन्देश' (१५४१-१५४७ ई०) 'राजा राम वर्मा' के सभा-कवि 'नारायण' की कृति है। इस सन्देशकाव्य का उल्लेख 'जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी' (पृ० ४४९) में किया गया है।

सुरभिसन्देश

'संस्कृत के सन्देशकाव्य' (राम कुमार आचार्य, परिशिष्ट २) के अनुसार यह कृति तिरुपति के आधुनिक कवि 'श्री वीरवल्लि विजयराघवाचार्य' की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हनुमद्दूतम्

'श्री नित्यानन्द शास्त्री' (१९ वीं शताब्दी) की कृति 'हनुमद्दूत' पूर्व तथा उत्तर दो भागों में विभक्त है जिसमें कुल पद्यों की संख्या ६८ एवं ५८ है। 'कालिदास' रचित 'मेघदूत' के आधार पर लिखे गये समस्या-पूर्ति वाले इस दूतकाव्य का प्रतिपाद्य-विषय श्री राम द्वारा हनुमान को दूत बनाकर सीता का अन्वेषण करना है। यह कृति 'खेमराज कृष्णदास' द्वारा विक्रम संवत् १९८५ में बम्बई से प्रकाशित है।

हनुमत्सन्देश

'संस्कृत के सन्देशकाव्य' (राम कुमार आचार्य, परिशिष्ट २) के अनुसार राम कथा पर आधारित 'हनुमत्सन्देश' (१८८५-१९२० ई०) 'श्री विज्ञ-सूरि वीर राघवाचार्य' की रचना है।

हरिणसन्देश

मैसूर की गुरुपरम्परा के उल्लेखानुसार 'हरिणसन्देश' आचार्य वेदान्त-देशिक के पुत्र 'श्री वरदाचार्य' की कृति है।

हारीतदूतम्

इस काव्य का 'प्रो० मिराशी' लिखित 'कालिदास' नामक पुस्तक (पृ० २५९) में उल्लेख मात्र किया गया है।

हंसदूतम्

'हंसदूत' नामक विभिन्न कवियों की पाँच कृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से कृष्ण-कथा से सम्बद्ध शिखरिणी छन्द में निबद्ध ७४२ पद्यों वाले 'हंसदूत' के रचयिता 'रूप गोस्वामी' हैं। इसका वर्ण्य-विषय, कंस के अत्याचार के कारण कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यमुना तट पर आयी हुई कृष्ण-जन्य विरह में अपनी सखी को मूर्च्छावस्था में देखकर ललिता नामक उसकी सखी के द्वारा यमुना में एक हंस को देख उसको दूत बनाकर अपनी सखी की विरह-व्यथा को कृष्ण तक पहुँचाना, है। इसका प्रकाशन सन् १८८८ में कलकत्ता से हुआ है। 'श्री मद्वामन' रचित 'हंसदूत' का प्रतिपाद्य-विषय शापग्रस्त एक यक्ष के द्वारा विरह-पीड़िता अपनी प्रिया यक्षिणी तक अपना सन्देश हंस को दूत बनाकर भेजना, है। इसका प्रकाशन सन् १८८८ में कल-कत्ता से हुआ है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

'बंग साहित्य परिचय' में उद्धृत (पृ० ८५०) 'रघुनाथ दास' प्रणीत 'हंसदूत' का प्रतिपाद्य विषय, कृष्ण के मथुरा चले जाने पर राधा की मूर्च्छावस्था को देखकर ललिता नामक सखी द्वारा वहाँ विद्यमान एक हंस को देख उसे दूत बनाकर राधा का सन्देश कृष्ण तक पहुँचाना, है तथा 'वेंकटेश' कवि रचित 'हंसदूत' का वर्ण्य-विषय सीता-विरह से सन्तप्त श्री राम के द्वारा हंस को दूत बनाकर अपना सन्देश सीता तक पहुँचाना और कवि 'कविन्द्राचार्य' प्रणीत ४० पद्यों वाले 'हंसदूत' की कथावस्तु एक विरहिणी प्रेमिका द्वारा हंस को दूत बनाकर अपना सन्देश प्रियतम तक पहुँचाना है। इस कृति का नामोल्लेख तंजौर राजमहल के 'हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की सूची' (ए० सी० बर्नेल) में (पृ० १६३ पर) हुआ है।

हंससन्देश

'हंसदूत' की तरह 'हंससन्देश' नामक चार कृतियाँ उपलब्ध हैं। सम्भवतः हंस ने दौत्यकर्म के लिए परवर्ती संस्कृत साहित्य के कवियों को काफी प्रभावित किया है। यही कारण है कि 'हंसदूत' या 'हंससन्देश' नामक कृतियों की एक लम्बी शृंखला है। यहाँ ध्यातव्य है कि उक्त चार सन्देश-काव्यों में से तीन प्रकाशित हैं तथा एक अप्रकाशित।

रामानुज सम्प्रदाय के आचार्य तथा दार्शनिक के साथ-साथ कवि 'वेदान्तदेशिक' (वि० सं० १४ वीं शती) रचित ६० तथा ५१ पद्यों वाले दो आश्वास में विभक्त 'हंससन्देश' का वर्ण्य-विषय हनुमान द्वारा सीता का सन्देश पाकर लंका के राजा रावण के साथ युद्ध करने की तैयारी का समाचार हंस के द्वारा लंका स्थित सीता तक पहुँचाना, है। कृष्ण-भक्ति पर आधारित मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध १०२ पद्यों वाले 'हंससन्देश' के प्रणेता का नाम अज्ञात है। किन्तु इसके अन्तिम श्लोक —

> अन्यं विष्णोः पदमनुपतन् पक्षपातेन हंसः,
> पूर्णं ज्योतिः पदयुगजुषः पूर्णं सारस्वतस्य।

के आधार पर कवि का नाम 'सारस्वत' या 'पूर्ण सारस्वत' कहा जा सकता है। इस सन्देश काव्य में श्रीकृष्ण की विजय यात्रा को देख उन पर मुग्ध हुई स्त्री द्वारा पुष्प वाटिका में एक हंस को देखकर हंस को दूत बनाकर अपना सन्देश कृष्ण तक भेजने की कथा वर्णित है। किसी अज्ञात कवि द्वारा दार्शनिक आधार पर लिखे गये 'हंससन्देश' नामक सन्देशकाव्य में एक शिवभक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अपनी शिवभक्ति रूपी प्रेयसी को सन्देश भेजने के लिए अपने 'मानसहंस' को दूत बनाकर भेजने की कथा वर्णित है और किसी अज्ञात कवि की एक कृति 'हंससन्देश' की हस्तलिखित प्रति[1] गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी', मद्रास में सुरक्षित है।

हृदयदूतम्

कवि 'हरिहर' रचित इस दूतकाव्य में नायिका द्वारा अपने हृदय को दूत बनाकर अपना सन्देश नायक तक पहुँचाने की कथा वर्णित है। साथ ही यह कृति प्रकाशित भी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनेतर संस्कृत दूतकाव्यों या सन्देशकाव्यों की इस लम्बी श्रृङ्खला में अधिकांश कृतियों का निबन्धन श्रृङ्गार के द्वितीय भेद, अर्थात् विप्रलम्भ श्रृङ्गार में किया गया है।

जैन-दूतकाव्य

जिस प्रकार जैनेतर संस्कृत दूतकाव्यों की एक लम्बी श्रृङ्खला है; उसी प्रकार जैनदूतकाव्यों की भी एक श्रृङ्खला है, जो दूतकाव्यों या सन्देशकाव्यों की श्रृङ्खला को जोड़ने के साथ-साथ दूतकाव्यों या सन्देशकाव्यों की समृद्धि करता है। 'भवभूति'[2] के बाद एक शताब्दी के भीतर ही हम जैन कवियों को 'कालिदास' रचित 'मेघदूत' के प्रति विशेषत: आकृष्ट होते पाते हैं। उन्हें यह काव्य इतना रुचिकर प्रतीत हुआ कि उन्होंने इसके समस्त पद्यों की समस्यापूर्ति कर नवीन काव्यों की रचना की। इनमें से कई कवियों ने 'मेघदूत' के अन्तिम चरणों को ही समस्या-रूप में ग्रहण कर उसकी पूर्ति अपनी ओर से की है, परन्तु आचार्य 'जिनसेन' का कार्य इस दृष्टि से नितान्त श्लाघ्य है, जिन्होंने मेघदूत के समस्त पद्यों के समग्र चरणों की पूर्ति की। जैन दूतकाव्यों का अकारादि वर्णक्रमानुसार संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

इन्दुदूतम्

'श्री विनय विजयमणि' (१८ वीं शती का पूर्वार्द्ध) रचित 'इन्दुदूत' में १३१ पद्य हैं, जो मन्दाक्रान्ता छन्द में है। वर्ण्य-विषय इस प्रकार है —

विजयमणि जोधपुर में चातुर्मास्य कर रहे हैं तथा उनके गुरु 'विजयप्रभसूरि' सूरत में। चातुर्मास्य के अन्त में पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा को

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३२६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखकर 'विजयमणि' के मन में अपने गुरु के पास सांवत्सरिक क्षमापण सन्देश भेजने का विचार होता है तथा वे सन्देशवाहक के रूप में चन्द्रमा का स्वागत करके चन्द्रमा से दौत्य-कार्य सम्पादन करने के लिए कहते हैं। काव्य शान्त-रस प्रधान तथा प्रसाद गुण युक्त है और वर्ण्य-विषय नवीन है। इसके अतिरिक्त जैन कवि 'जम्बू' रचित 'इन्दुदूत' का उल्लेख 'जिनरत्नकोश' (पृ० ४६४) में मिलता है, किन्तु वर्ण्य-विषय अज्ञात है।

चन्द्रदूतम्

यह खरतरगच्छीय कवि 'विमल कीर्ति' की (१६८१ विक्रमी) रचना है। कवि ने इसमें १४१ श्लोकों में चन्द्र को शत्रुञ्जय जानकर ऋषभदेव की वन्दना के निमित्त भेजा है। इसका प्रकाशन वर्ष विक्रम संवत् २००९ है। इसके अतिरिक्त 'जिनरत्नकोश' (पृ० ४६४) में 'विनयप्रभ' प्रणीत 'चन्द्र-दूत' का उल्लेख किया गया है, परन्तु ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

चेतोदूतम्

किसी अज्ञात जैनाचार्य की इस रचना के १२९ पद्यों में चित्त को दूत बनाकर गुरु के पास विज्ञप्ति प्रेषण किया गया है। यह काव्य 'आत्मानन्द सभा', भावनगर से प्रकाशित है।

जैनमेघदूतम्

मेघदूत के पद्यों की समस्यापूर्ति वाले इन दूतकाव्यों को छोड़कर जैन कवियों की इस विषय में स्वतन्त्र रचनायें भी प्राप्त होती हैं। ऐसी रचनाओं में महाकवि "मेरुतुंग"[1] रचित 'जैनमेघदूत' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त परिचय पहिले दिया जा चुका है।

नेमिदूतम्

इस काव्य का वर्णन आगे किया जायेगा, इसलिए यहाँ इसका वर्णन नहीं किया जा रहा है।

---

१. 'जैनमेघदूतम्' के प्रणेता महाकवि 'मेरुतुङ्ग' 'प्रबन्धचिन्तामणि' के प्रणेता 'मेरुतुङ्ग' से पृथक् व्यक्ति हैं (रचनाकाल १३६१ विक्रमी = ईस्वी १३०४) तथा उनसे लगभग अस्सी वर्ष पीछे उत्पन्न हुए। इनका समय पट्टावली के आधार पर सन् १३४६-१४१४ तक माना जाता है। फलतः इस काव्य का रचनाकाल १४ वीं शती का अन्तिम चरण है। ये वैयाकरण, तार्किक तथा कवि एक साथ तीनों थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पवनदूतम्

महाकवि 'मेरुतुङ्ग' के लगभग दो शताब्दी बाद 'पवनदूत' नामक स्वतन्त्र दूतकाव्य के प्रणेता 'वादिचन्द्र' की 'पार्श्वपुराण', 'ज्ञान-सूर्योदय' (नाटक), 'पाण्डुपुराण,' यशोधर-चरित आदि ग्रन्थ भी हैं। 'मेघदूत' की तरह 'पवनदूत' भी मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है। इसके वर्ण्य-विषय का संक्षिप्त परिचय पहिले दिया जा चुका है। वादिचन्द्र[1] ने 'पार्श्वपुराण' की रचना सन् १५८३ ई० में; 'श्रीपाल आख्यान' की १५९४ ई० में तथा 'ज्ञान-सूर्योदय' नाटक की १५९१ ई० में की। फलतः इनका समय १६वीं शती का उत्तरार्ध माना गया है।

पार्श्वाभ्युदय

इसके प्रणेता 'जिनसेन'[2] द्वितीय 'वीरसेन' के शिष्य थे। अपने गुरुभाई विनयसेन के प्रोत्साहन पर इन्होंने इस अप्रतिम काव्य की रचना की। काव्य के प्रति सर्ग के अन्त में जिनसेन को अमोघवर्ष का गुरु बताया गया है। राष्ट्रकूटवंशीय अमोघवर्ष कर्नाटक तथा महाराष्ट्र का शासक था, जो ८७१ वि० सं० (=८१४ ई०) में राज्यासीन हुआ था।

चार सर्गों में विभक्त 'पार्श्वाभ्युदय' में कुल पद्य ३६४ हैं। भाषा प्रौढ़ और मेघदूत की तरह इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग किया गया है। समस्यापूर्ति के रूप में मेघदूत के समग्र पद्य इस काव्य में प्रयुक्त हैं, जिसका आवेष्टन तीन रूपों में पाया जाता है—(१) पादवेष्टित (मेघदूत का केवल एक चरण); (२) अर्धं वेष्टित (दो चरण); (३) अन्तरितावेष्टित जिसमें एकान्तरित, द्वयन्तरित आदि कई प्रकार हैं। 'एकान्तरित' में मेघदूत के किसी श्लोक के दो पाद रखे गये हैं जिनके बीच में एक-एक नये पाद निविष्ट हैं। द्वयन्तरित में दो पादों के बीच में दो नये पादों का सन्निवेश है। और इस प्रकार मेघदूतीय मन्दाक्रान्ता के समग्र चरण इस काव्य में निविष्ट कर दिये गये हैं। इसमें २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ स्वामी की तीव्र तपस्या के अवसर पर उनके पूर्व भव के शत्रु शम्बर के द्वारा उत्पादित कठोर क्लेशों तथा शृङ्गारिक प्रलोभनों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है। मेघदूत

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय); पृ० ३२९।
२. कवि का समय अष्टम शती के अन्तिम चरण से लेकर नवम शती के द्वितीय चरण तक मानना सर्वथा समीचीन है। वहीं, पृ० ३२७

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

जैसे शृङ्गारी काव्य को अनुपम शान्तिरसान्वित काव्य में परिणत करना कवि की श्लाघनीय प्रतिभा का मधुर विलास है।

'पार्श्वाभ्युदय' के स्वरूप-ज्ञान के लिए दो पद्य द्रष्टव्य हैं—

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पवाणैर्मदङ्गं
तल्पेऽनल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृप्ते।
तीव्रापाया त्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नाऽऽपं
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥ ४/३५॥

उक्त पद्य चतुर्थ चरण की पूर्ति के कारण 'पादवेष्टित' है तो निम्नलिखित पद्य उत्तरमेघ (श्लो० २३) की आदि पादद्वयी को एक-एक पाद से संवलित करने के कारण 'एकान्तरित' है—

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
गाढोत्कण्ठं करुणविरुतं विप्रलापायमानम्।
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा
त्वामुद्दिश्य प्रचलदलकं मूर्च्छनां भावयन्ती॥ ३/३८॥

काव्य में वर्णित प्रकृति-चित्रण भी बड़ा ही आकर्षक है। रेवा नदी का वर्णन करते हुए कवि रेवा को पृथिवी की टूटी हुई मोतियों की माला बता कर उसके किनारे जंगली हाथियों की दन्तक्रीड़ा और पक्षियों के मधुर कलरव का वर्णन कर नदी तट का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है—

गत्वोदीचीं भुव इव पृथुं हारयष्टिं विभक्तां
वन्येभानां रदनहतिभिर्भिन्नपर्यन्तवप्राम्।
वीनां वृन्दैर्मधुरविरुतैरात्ततीरोपसेवां
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्॥ १/७५॥

यहाँ ध्यातव्य है कि जिनसेन मात्र एक कवि ही नहीं अपितु विचक्षण तार्किक भी थे।

मनोदूतम्

किसी अज्ञात जैन आचार्य की इस कृति में कुल ३०० पद्य हैं। इस काव्य की मूल प्रति 'पटण' के भण्डार में सुरक्षित है।

मयूरदूतम्

शिखरिणी छन्द में निबद्ध १८० पद्यों वाले इस आध्यात्मिक काव्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचयिता कवि 'मुनि धुरन्धर विजय' (१९वीं शताब्दी) हैं। इसकी कथा-वस्तु में कपडवणज में चातुर्मास्य कर रहे मुनि विजयामृतसूरि द्वारा अपने गुरु (विजयनेमिसूरि जो जामनगर में चातुर्मास्य कर रहे हैं) के समीप अतीव श्रद्धा होने के कारण वन्दना एवं क्षमायाचना के लिए मयूर को दूत बनाकर गुरु के पास भेजा गया है।

मेघदूत-समस्या-लेख

उपाध्याय 'मेघविजय' की १३० पद्यों में रचना है, जिसमें कवि ने मेघ के द्वारा गच्छाधिपति विजयप्रभसूरि के पास विज्ञप्ति भेजी है। इसका रचना-काल १७२० विक्रमी = १६६३ ईस्वी है।

वचनदूतम्

पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में दो भागों में विभक्त इस काव्य के रचयिता 'पं० मूलचन्द्र शास्त्री' हैं। इस काव्य की कथावस्तु २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ तथा राजीमती (राजुल) से सम्बन्धित है। काव्य के पूर्वार्ध में राजीमती (राजुल) के आत्मनिवेदन को प्रस्तुत किया गया है तथा उत्तरार्ध में वियोगिनी राजीमती की व्यथा को परिजनों द्वारा कहलाया गया है।

शीलदूतम्

यह काव्य बृहत्तपागच्छीय 'चारित्रसुन्दरगणि' के द्वारा (खम्भात में १४८२ वि० सं० = १४२५ ईस्वी में १२५ श्लोकों में) रचित मेघदूत के अन्त्य चरणों की समस्या-पूर्ति है। फलतः काव्य का रचना-काल १५ वीं शती का आरम्भ काल है। इसमें विरक्त तथा दीक्षित स्थूलभद्र को उसकी पत्नी कोशा गृहस्थाश्रम में आने के लिए आग्रह करती है, परन्तु स्थूलभद्र अपनी आस्था पर अडिग है और अपने शील के द्वारा धर्मपत्नी को भी जैनधर्म में दीक्षित कर लेता है। शील[1] की इस कार्य में हेतुता होने से ही यह 'शीलदूत' कहलाता है, अन्यथा यहाँ दूत की सत्ता नहीं है। १३१ पद्यों से संवलित इस काव्य में कोशा की विरहदशा का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। विस्तृत जानकारी के लिए देखें डॉ० रवि शंकर मिश्र लिखित 'जैनमेघदूत' की भूमिका।

हंसपादाङ्कदूतम्

इस काव्य का सर्वप्रथम नामोल्लेख जैन विद्वान् 'श्री अमरचन्द्र नाहटा'

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने अपने एक लेख में किया, परन्तु वे इसे जैन कवि की कृति होने में सन्देह भी करते हैं। फिर भी विद्वद्रत्नमाला के उल्लेखानुसार इस कृति को जैन संस्कृत दूतकाव्यों में मिला लिया गया है। शेष जानकारी नहीं हो सकी है।

इस प्रकार जैन संस्कृत दूतकाव्यों की परम्परा को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ जैनेतर संस्कृत दूतकाव्यों में विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रधानता है, वहीं जैन कवियों की कृतियों की परिणति शान्त रस में है।

नेमिदूत का कथासार

'नेमिदूत' की कथावस्तु जैनों के २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ से सम्बन्धित है। द्वारिका के यदुवंशी राजा श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भाई समुद्रविजय थे। नेमिनाथ समुद्रविजय के ज्येष्ठ पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही ये विषय-पराङ्मुख थे। बारातियों के भोजन के निमित्त बँधे बकरे आदि के आर्तनाद को सुनकर उनका हृदय द्रवित हो जाता है तथा वे वहीं से सांसारिक-बन्धनों को तोड़कर रामगिरि पर केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए समाधिस्थ हो जाते हैं।

राजीमती इस समाचार को सुनकर दुःखी हो पिता की आज्ञा लेकर नेमि का अनुसरण करती हुई वहाँ पहुँचती है। राजीमती की सखी नेमि से विरहावस्था का वर्णन करते हुए उन्हें द्वारिका लौट चलने की प्रार्थना करती है; किन्तु नेमि अपने मार्ग से विचलित नहीं होते हैं और अन्त में राजीमती को भी दीक्षा देकर नेमिनाथ और राजीमती तपश्चर्या में संलग्न हो जाते हैं।

कवि का परिचय

'विक्रम' कवि का समय क्या था, ये किस वंश और सम्प्रदाय के थे इस विषय को जानने के लिए अद्यावधि कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है जिससे इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहा जा सके।

'नेमिदूत' का अन्तिम श्लोक ही इसका एकमात्र उपलब्ध प्रमाण है जिसके आधार पर 'नेमिदूत' को 'विक्रम' कवि की कृति के रूप में स्मरण किया जाता है। श्लोक इस प्रकार है —

सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
दन्त्यं पादं सुपदरचितान्मेघदूताद् गृहीत्वा।
श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः॥ १२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्, साङ्गण के पुत्र विक्रम ने श्रीमन्नेमि के चरित को लेकर निर्मल (नेमिदूतम्) काव्य की रचना की; जिसका अन्त्य पाद (चतुर्थ चरण) कालिदास के 'मेघदूत' से लिया गया है।

'नेमिदूत' की हस्तलिपि-प्रति सं० १४७२ में उपलब्ध होने से कुछ विद्वानों ने उक्त आधार पर विक्रम कवि का समय १५ वीं शताब्दी सिद्ध करने का प्रयास किया, जो निराधार ही नहीं नितान्त भ्रामक भी है। विद्वद्वर नाथूराम जी, 'विद्वद्रत्नमाला' तथा 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थ में, सं० १३५२ के लेख के आधार पर, विक्रम कवि को दिगम्बर सम्प्रदायी मानते हैं, किन्तु यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत नहीं होता।

अन्ततः अनिश्चितता के गर्त में पड़े विक्रम कवि के समय, सम्प्रदाय, वंशादि के विषय में कुछ भी कहना इदमित्थं जैसा है। फिर भी, इतिहासकारों के अनुसार विक्रम कवि का समय १३ वीं शताब्दी का अन्त और १४ वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है तथा ये खरतरगच्छीय परम्परा के थे।

यहाँ इतना ध्यातव्य है कि 'बीकानेर स्टेट लाइब्रेरी' तथा 'हेमचन्द्रसूरि पुस्तकालय' की प्रति में 'विक्रम' के स्थान पर 'झांझण' पाठ है। किन्तु नेमिदूत की जब अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हुईं, तो नेमिदूत की लोकप्रियता के साथ-साथ विक्रम के स्थान पर झांझण पाठ का भी स्वतः निराकरण हो गया।

नेमिदूतम्

नेमिदूत के विषय में यह विवाद है कि इसे दूत-काव्य माना जाय अथवा काव्य। इस विषय में मेरा यही विचार है कि नेमिदूत को दूत-काव्य की कोटि में ही रखना उचित होगा। नेमिदूतः—'नेमि एव दूतः' यहाँ यदि रूपक समास की विवक्षा की जाय तो यह पुल्लिङ्ग एवम् अभेद लक्षणया ग्रन्थवाचक बन जायेगा। यदि नेमि एव दूतो यस्मिस्तत् नेमिदूतम् अर्थात्, नेमि ही हो दूत जिसमें इस प्रकार अन्यपद प्रधान बहुव्रीहि समास की विवक्षा की जाय तो यह पद नपुंसक हो जाता है।

अब, जहाँ तक इसको दूत-काव्य मानने की बात है, तो वह इस प्रकार है—

विवाह में बारातियों के लिए भोज्य-सामग्री में जीव (भक्ष्य पशु) भी थे। उनके आर्तनाद को सुनकर नेमिनाथ इस सांसारिक माया-मोह से विरक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर केवलज्ञान (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए रामगिरि पर चले जाते हैं। इस वृत्तान्त को सुनकर उग्रसेन की दुहिता राजीमती भी अपनी सखियों के साथ रामगिरि पर जाती है; जहाँ राजीमती की सखी ही (न कि राजीमती) राजीमती के विरहावस्था का वर्णन करती है और इसकी पुष्टि स्वयं राजीमती के सखी के इस वचन से भी हो जाता है —

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्तां च रक्तां,
किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्षसे दह्यमानाम् ।
तत्स्वीकारात्कुरु मयि कृपां यादवाधीश ! बाला,
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ११० ॥

इसी प्रकार राजीमती की सखी नेमिनाथ से द्वारिका लौट चलने के लिए राजीमती की विरहावस्था का वर्णन करते हुए अपने वाक्य की समाप्ति करते हुए कहती है कि 'जिस प्रकार वर्षाकाल में नवीन मेघ का बिजली रूपी प्रियतमा से कभी वियोग नहीं होता उसी प्रकार तुम्हारा (नेमि का) भी अपनी प्रियतमा राजीमती से कभी वियोग न हो।'

राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ १२३ ॥

स्पष्ट है कि नेमिदूत के प्रारम्भ में "सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं" से लेकर 'विद्युता विप्रयोगः' इस कथन से दूतकाव्य के लिए जो अपेक्षित तत्त्व हैं, उसकी अक्षुण्ण स्थिति बनी हुई है।

पुनः सखी के द्वारा राजीमती के मनोगत भावों को जानकर नेमि ने राजीमती को अपने सहचरी के रूप में ग्रहण कर लिया। किन्तु ध्यातव्य है कि राजीमती नेमि के द्वारा एक शृङ्गारी नायिका के रूप में नहीं, अपितु सुन्दर वाक्यों से धर्म का उपदेश देकर सुख-दुःख-मोह स्वरूपा इस संसार की असारता को दिखाकर मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए ही उसे स्वीकार किया गया, क्योंकि महापुरुषों से की गई सबों की प्रार्थना सफल होती है—

तत्सख्योक्ते वचसि सदयस्तां सतीमेकचित्तां,
सम्बोध्येशः सभवविरतो रम्यधर्मोपदेशैः ।
चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः,
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ १२४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा राजीमती को अभिलषित शाश्वत् सुखों का भोग कराया—

तामानन्दं शिवपुरि परित्याज्य संसारभाजां,
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ १२५ ॥

नेमिदूत के उक्त दोनों श्लोकों के द्वारा कवि ने इस काव्य में नेमि को एक शान्ति-दूत के रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः नेमि ही इस काव्य में शान्ति-दूत के रूप में अवतरित हुए हैं; जिन्होंने सांसारिक भोगासक्त राजीमती को भी मुक्ति रूपी शाश्वत् सुख का सन्देश देकर उसको मुक्ति मार्ग पर प्रवृत्त कराया, अर्थात् मुक्ति प्राप्ति हेतु राजीमती भी उसी पर्वत पर नेमि के साथ ध्यानस्थ हो गई। यहाँ यह शंका उचित नहीं है कि उक्त दो श्लोकों के आधार पर इसे दूतकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रात्रि में अन्धकार को दूर करने के लिए एक चन्द्र की ही आवश्यकता होती है, अर्थात् घनीभूत अन्धकार को रात्रि में अकेले चन्द्र ही दूर कर देता है न कि करोड़ों की संख्या में आकाश-स्थित तारा समूह। यही स्थिति नेमिदूत में राजीमती के सखी द्वारा कहे गये वचनों की भी समझनी चाहिए।

अब, कहने की आवश्यकता नहीं, नेमिदूत को गीतिकाव्य के दो भेदों में से 'दूतकाव्य' की श्रेणी में ही रखना उचित है। इसके लिए किसी अन्य तर्क का कोई अवसर नहीं।

नेमिदूतम् का रस

नेमिदूत का प्रधान रस 'शान्त' है, जिसकी योजना प्रथम श्लोक में कर दिया गया है —

प्राणित्राणप्रवणहृदयो बन्धुवर्गं समग्रं,
हित्वा भोगान् सह परिजनैरुग्रसेनात्मजां च।
श्रीमान्नेमिर्विषयविमुखो मोक्षकामश्चकार,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

पुनः इसका चरमोत्कर्ष निम्न श्लोकों में हुआ है—

तत्सख्योक्ते वचसि सदयस्तां सतीमेकचित्तां,
सम्बोध्येशः सभवविरतो रम्यधर्मोपदेशैः।
चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः,
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ १२४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन्,
नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोऽधिगम्य ।
तामानन्दं शिवपुरि परित्याज्य संसारभाजां;
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ १२५ ॥

इसके अतिरिक्त नेमिदूत में श्रृङ्गार के विप्रलम्भ भेद का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। राजीमती नेमि के विरह में कामाग्नि में जलती हुई अपनी सखियों के साथ रामगिरि पर जाती है। सखी राजीमती की विरहावस्था का वर्णन करती हुई कहती है—हे नाथ ! क्षत्रिय का धर्म है शरण में आये हुए की रक्षा करना। इसलिए कामबाण से व्यथित इस राजीमती की आप रक्षा करें—

सा तं दूना मनसिजशरैर्यादवेशं बभाषे,
रक्षत्यार्तं शरणगमसौ क्षत्रियस्येति धर्मः ॥ ६ ॥

क्योंकि वर्षाकाल के उपस्थित हो जाने पर वियोग में तत्क्षण टूट जाने वाली विरहिणी के हृदय को, प्रिय के अतिरिक्त दूसरा कौन, रोक सकता है—

काले कोऽस्मिन् वद यदुपते ! जीवितेशादृतेऽन्यः,
सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ १० ॥

सखी के मुख से राजीमती की विरह-दशा का वर्णन सुनकर नेमि के हृदय में जो भी भाव उत्पन्न हुआ हो, किन्तु राजीमती की विरह दशा को सुनकर वहाँ उपस्थित मेघ का हृदय द्रवित हो गया और वह रो पड़ा—

इत्युक्तेस्या वचनविमुखं मुक्तिकान्तानुरक्तं,
दृष्ट्वा नेमिं किल जलधरः सन्निधौ भूधरस्थः ।
तत्कारुण्यादिव नवजलाश्राणुविद्धां स्म धत्ते,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥ ८८ ॥

विरह की अग्नि में तपती हुई राजीमती की शोभा शरद् ऋतु में हिमपात के कारण पत्रादि से रहित कमल की शोभा के समान तो हो ही गई है, साथ ही उसके शरीर की कान्ति श्वेतकुमुद पुष्प के वृक्ष में खिले हुए कुमुद पुष्प की उस शोभा के समान है, जो शोभा सूर्य की तप्त किरणों में कुमुद-पुष्प की होती है। इतना ही नहीं, नेमि के वियोग में उसका अनुसरण करती हुई राजीमती की शरीर-कान्ति कला से रहित चन्द्रमा की दीनता को ही कहती है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एनां शुष्यद्वदनकमलां दूरविध्वस्तपत्रां,
जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ।। ९० ।।
उद्यत्तापात्कुमुदमिव ते कैरविण्या वियोगा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ।। ९१ ।।

फलस्वरूप राजीमती की सखियाँ, जो शयन-कक्ष की खिड़की पर बैठी हुई हैं, कर्ण प्रिय गीतादि के द्वारा या विनोदपूर्ण वार्ता के द्वारा अथवा पुराण सम्बन्धी कथा के द्वारा भी राजीमती को प्रसन्न करने में सफल नहीं होती हैं—

गीताद्यैर्वा श्रुतिसुखकरैः प्रस्तुतैर्वा विनोदैः;
पौराणीभिः कृशतनुमिमां त्वद्वियोगात्कथाभिः ।
तुष्टिं नेतुं रजनिषु पुनर्नालिवर्गः क्षमोऽभूत्,
तामुन्निद्रामवनिशयनासन्नवातायनस्थः ।। ९६ ।।

वियोग की अवस्था कैसी होती है इसका अनुमान इसी से हो जाता है कि राजीमती के लिए एक रात्रि एक वर्ष के समान हो गयी —

रात्रिं संवत्सरशतसमां त्वत्कृते तप्त गात्री ।। ९७ ।।

जिसके कारण वियोगपीडिता राजीमती सम्पूर्ण जगत् को ही नेमिमय देखने लगी—

पश्यन्ती त्वन्मयमिव जगन्मोहभावात्समग्रम् ।। ९८ ।।

और मदनबाण से विदीर्णहृदया राजीमती नवपल्लव सदृश शय्या पर उसी प्रकार न सो पाती थी और न जग ही पाती थी, जिस प्रकार घनाच्छन्न वर्षा काल के दिन में स्थलकमलिनी न तो विकसित और न ही मुकुलित हो पाती है —

अन्तर्भिन्ना मनसिजशरैर्मीलिताक्षी मुहूर्तं,
लब्ध्वा संज्ञामियमथ दृशाऽवीक्षमाणातिदीना ।
शय्योत्संगे नवकिसलयस्रस्तरे शर्म लेभे,
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता ।। ९९ ।।

विरह की इस अग्नि के ताप से राजीमती का कोमल बाहुद्वय मलिन होकर, सूर्य की किरण से मलिन शोभा वाली कमल नाल की तरह हो गया है तथा रस से आर्द्र केले के समान गोरी जाँघ विरह-निःश्वास से दग्ध होकर विरहाग्नि के साथ चञ्चलता को प्राप्त हो गयी है —

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

अन्तस्तापान् मृदुभुजयुगं ते मृणालस्य दैन्यं,
म्लानं चैतन्मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य धत्ते ।
प्लुष्टः श्वासैर्विरहशिखिना सद्वितीयस्तवायं,
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ १०३ ॥

और अब तो नेमि-वियोग की पीड़ा से असहाय बना दी गई 'राजीमती के शरीर में केवल प्राण और लावण्य ही शेष रह गया है' —

यत्सन्तन्व्यानिशमतितरां प्राणलावण्यशेषम् (११६) ।

इस काव्य में कवि द्वारा विप्रलम्भ शृंगार का अवसान शान्त रस में करने का प्रयोजन है — लोक में सांसारिक भोग-वस्तुओं की निःसारता को दिखाकर मनुष्य को शान्ति के मार्ग पर प्रवृत्त करना ।

प्रकृति-वर्णन

'नेमिदूत' में कवि द्वारा किया गया प्रकृति-वर्णन वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है । जैसे ये प्रकृति के सौम्य रूप को देखते हैं उसी तरह उसका उग्र रूप भी उनकी लेखनी से चमत्कृत होता है । वर्षाकाल उपस्थित होने पर, आकाश में मँडराते हुए मेघसमूह तथा उड़ती हुई बकुल पंक्तियाँ जहाँ प्रकृति के सौम्य रूप का द्योतक हैं —

अस्मादद्रेः प्रसरति मरुत्प्रेरितः प्रौढ़नादै-
भिन्दानोऽयं विरहिजनताकर्णमूलं पयोदः ।
यं दृष्ट्वैताः पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाऽऽभाः,
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ९ ॥

वहीं जनस्थान का भयावह रूप भी द्रष्टव्य है — आकाश में काले-काले बादल मँडरा रहे हैं; फलस्वरूप घनाच्छन्न होने से घनीभूत अन्धकार व्याप्त है कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता । ऐसे में दिन और रात के ज्ञान में आकाश में उड़ते हुए हंस-समूह ही सहायक होते हैं —

शैलप्रस्थे जलदतमसाऽऽच्छादिताशाम्बरेण,
स्निग्धश्यामाञ्जनचयरुचाऽऽसादिताभिन्नभावाः ।
यामिन्योऽमूर्विहितवसतेर्वासरा चाजनेऽस्मिन्,
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ ११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारिका वर्णन

द्वारिका का वर्णन करते हुए कवि का कहना है कि द्वारिका की शोभा इतनी सुन्दर है कि उसकी अंश मात्र भी शोभा कुबेर की नगरी 'अलका' में नहीं है —

तुङ्गं शृगं परिहर गिरेरेहि याव: पुरीं स्वां;
रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशांतरालम् ।
शोभासाम्यं कलयति मनाग्नालका नाथ ! यस्या:;
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या ॥ ७ ॥

क्योंकि जिस द्वारिका में, भगवान् कृष्ण ने स्वयं युद्ध में इन्द्र को पराजित करके देवलोक से पारिजात पुष्प विशेष को लाकर लगाया है; उस द्वारिका की शोभा सचमुच अतुलनीय है—

निर्जित्येन्द्रं समुरमनयत्पारिजातं द्युलोकाद् ॥ १४ ॥

यही नहीं कृष्ण के द्वारा रक्षित होने के कारण द्वारिकावासियों को व्याधि स्पर्श तक नहीं करता, मृत्यु की कथा केवल पुराणों में ही सुनी जाती है, तब उस द्वारिका के विषय में कहना ही क्या—

व्याधिर्देहान्स्पृशति न भयाद्रक्षितुः शाङ्गंपाणे-
र्मृत्योर्वार्ता श्रवणपथगा कुत्रचिद्वासभाजाम् ॥ ७० ॥

तभी तो कामदेव भी भयरहित होकर अपने धनुष-बाण का परित्याग कर उस द्वारिका में स्वच्छन्द विहार करता है—

बाणस्याजौ हरविजयिनो वासुदेवस्य यस्यां,
प्राप्यासत्तिं चरति गतभीः पुष्पचापो निरस्त्रः ॥ ८१ ॥

द्वारिका के भवनों की सुन्दरता के विषय में कहना ही क्या। नीले रत्नों से जड़ा हुआ उसका शिखर और नीचे पीत वर्ण की उसकी अट्टालिका तो ऐसी लग रही है, मानों पृथिवी का स्तन ही हो—

त्वत्सौधेनासितमणिमयाग्रेण हैमोऽग्रवप्रो,
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ १९ ॥

और द्वारिका नगरी में बाल अशोक वृक्ष तथा हाथ से पाये जा सकने वाले पुष्प-गुच्छों से झुका हुआ छोटा-सा-मन्दार वृक्ष तोरण-द्वार की तरह सुशोभित हो रहा है —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्राशोक: कलयति नवस्तोरणाभां तथान्यो-
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्ष: ॥ ८२ ॥

चरित्र-चित्रण

नेमिनाथ — नेमिनाथ का चरित्र कवि के द्वारा उदात्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। बारातियों के निमित्त बँधे भक्ष्य पशुओं को देखकर उनका हृदय करुणा से भर जाता है तथा इस संसार के प्रति विरक्ति हो जाती है। फलस्वरूप इस संसार की असारता को देखकर वे रामगिरि पर योगाभ्यास और तपश्चर्या में लग जाते हैं। नेमिनाथ को इस पवित्र प्रयत्न से हटाने में न तो बन्धु-बान्धवों का मोह सफल हुआ और न ही त्रैलोक्यसुन्दरी राजीमती का रूप तथा न तो पितृ-आदेश ही।

राजीमती — राजीमती उग्रसेन की पुत्री थी। त्रैलोक्यसुन्दरी राजीमती नेमि द्वारा छोड़ दिये जाने पर नेमि के विरह में रामगिरि पर चली जाती है; किन्तु उसने इसके लिए पहिले अपने पिता की आज्ञा प्राप्त की है—

प्राप्यानुज्ञामथ पितुरियं त्वां सहास्माभिरस्मिन्,
सम्प्रत्यद्रौ शरणमबला प्राणनाथं प्रपन्ना ॥ १०९ ॥

काम से सन्तप्त होने पर भी उसने भारतीय नारी की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया; अपितु अपनी व्यथा का कथन अपने सखी के मुख से नेमि के सम्मुख करवाती है—

त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं सन्मुखेनेदमाह ॥ ११० ॥

कवि के द्वारा राजीमती का पतिव्रता रूप प्रदर्शित किया गया है। राजीमती का विवाह नेमि के साथ हुआ नहीं था, अपितु राजीमती नेमि को हृदय से पति मान चुकी थी। इसीलिए माता के द्वारा अनेक प्रकार से समझाने के बाद भी वह अपने स्वामी नेमि के पास जाती है और वहाँ वह एक पतिव्रता नारी की तरह पति का अनुगमन करती हुई परिव्रज्या हो जाती है तथा उस धर्म को स्वीकार कर अपने पति के द्वारा कभी न समाप्त होने वाले परमानन्द का भोग करती है—

तामानन्दं शिवपुरि परित्याज्य संसारभाजां,
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ १२५ ॥

शिवा — शिवा राजीमती की माता का नाम है। शिवा का जो रूप कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है, उससे यही स्पष्ट होता है कि जननी शिवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की दृष्टि में हृदय से पति का वरण करना कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। अच्छा यही है कि ऐसे पति, जिसका हृदय से वरण किया गया है, के द्वारा परित्यक्ता को चाहिए कि वह उसके बारे में कोई चिन्ता न करे—

आहूयैनामवददथ सा निर्दयो योऽत्यजत्वा-
मित्थं मुग्धे ! कथय किमियद्धार्यते तस्य दुःखम् ॥ १०२ ॥

पुत्री के दुःख से दुःखी होकर वह करुण विलाप करती है तथा राजीमती से कहती है — हे पुत्री शोक का परित्याग करो, प्रसन्नता को प्राप्त करो तथा इष्टदेव तुम्हारे ऊपर कृपा करें, जिससे एकान्त में पति के द्वारा किया गया गाढ़ालिंगन, गले में लिपटी लताओं की तरह, पुनः छूट न जाय—

वत्से ! शोकं त्यज भज पुनः स्वच्छतामिष्टदेवाः,
कुर्वन्त्येवं प्रयत मनसोऽनुग्रहं ते तथामी।
भर्तुर्भूयो न भवति रहः संगतायास्तथा ते,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलता ग्रन्थिगाढोपगूढम् ॥ १०४ ॥

उक्त कथन से भी पूर्वोक्त बात का ही समर्थन होता है। यदि ऐसी बात नहीं थी तो राजीमती ने अपनी माता के उपदेशपरक सभी वाक्यों की अवहेलना क्यों कर दी —

मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय ॥ १०६ ॥

उग्रसेन — उग्रसेन के सम्बन्ध में 'नेमिदूत में जो कुछ मिलता है वह अत्यन्त अल्प है। प्रथम श्लोक से केवल इतना ही ज्ञान होता कि राजीमती उनकी पुत्री थी। पश्चात्, उग्रसेन का जो वर्णन प्राप्त होता है उससे यही विदित होता है कि ये वात्सल्य प्रिय थे। सन्तति के सुख में ही इनका सुख था। साथ ही ये धार्मिक थे। पातिव्रत धर्म का इनकी दृष्टि में सर्वोच्च स्थान था। यही कारण है कि राजामती की इच्छा को जानकर उन्होंने उसे रामगिरि पर नेमिनाथ के पास जाने की अनुमति प्रदान कर दी —

प्राप्यानुज्ञामथ पितुरियं त्वां सहास्माभिरस्मिन्,
सम्प्रत्यद्रौ शरणमबला प्राणनाथं प्रपन्ना ॥ १०९ ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'नेमिदूत' में जिन पात्रों का प्रत्यक्ष वा परोक्ष चित्रण किया गया है, वे वस्तुतः चारित्रिक विविधताओं से युक्त हैं।

— धीरेन्द्र मिश्र

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

नेमिदूतम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विक्रमकविविरचितं

नेमिदूतम्

प्राणित्राणप्रवणहृदयो बन्धुवर्गं समग्रं,
हित्वा भोगान्सह परिजनैरुग्रसेनात्मजां च।
श्रीमान्नेमिर्विषयविमुखो मोक्षकामश्चकार,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

अन्वयः — प्राणित्राणप्रवणहृदयः, श्रीमान्नेमिः, विषयविमुखः, समग्रं बन्धुवर्गं परिजनैः सह भोगान्, उग्रसेनात्मजां च, हित्वा, मोक्षकामः, स्निग्धच्छायातरुषु, रामगिर्याश्रमेषु, वसतिं चकार।

प्राणित्राणप्रवणहृदय इति। प्राणित्राण प्राणिनां प्रकृत्वाच्छाग-सारङ्गादीनां रक्षणमिति, प्रवणहृदयः—तदासक्तं चित्तं यस्य स श्रीमान्नेमिः जिनः राजीमतीं विवाहार्थमुपागतस्तस्यानेक कारुण्याश्रयमृगादिवाटकमवलोक्य पश्चाद्वालितरथस्य परमकृपाश्रयत्वं बोधितमित्यर्थः। विषयविमुखः—रागादिविमुखः प्रतिकूलमनाः। समग्रं बन्धुवर्गं—समस्तं स्वजनसमुदायं परिजनैः सह भोगान् उग्रसेनात्मजां-राजीमतीं च हित्वा परित्यज्य, इत्यनेन भगवतो श्रीमान्नेमिः नीरागता बोधिता इति भावः। मोक्षकामः मोक्षं निःश्रेयसं कामयते वाञ्छयति वा इति मोक्षकामरित्यर्थः। स्निग्धच्छायातरुषु - स्निग्धाः सान्द्राश्छाया तरवो नमेरुवृक्षा येषु तेषु वसतियोग्येष्वित्यर्थः। 'छायावृक्षो नमेरुः स्यात्' इति च शब्दार्णवे। रामगिरेश्चित्रकूटस्याश्रमेषु वसतिम् — वासं चकार चक्रे। श्लोकेऽस्मिन् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्। तल्लक्षणम्—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद् गुरु चेदिति ॥ १ ॥

शब्दार्थः — प्राणि—जीवधारियों की, त्राण—रक्षा, प्रवण—प्रवृत्त, आसक्त, संलग्न, हृदयः—चित्त, श्रीमान्नेमिः—श्रीमान् नेमि, विषयविमुखः—सांसारिक विषयवासनाओं से पराङ्मुख, समग्रम्—समस्त, बन्धुवर्गम्—स्वजनों को, परिजनैः—अनुचरवर्ग (दास-दासियों के), सह—साथ, भोगान्—सुखों को, उग्रसेनात्मजाम्—उग्रसेन की पुत्री (राजीमती), च—तथा, हित्वा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़कर, मोक्षकामः—मोक्ष की इच्छा से; स्निग्धच्छायातरुषु—घने नमेरु वृक्षों से युक्त, रामगिर्याश्रमेषु—रामगिरि (नामक पर्वत के) आश्रमों में; वसतिम्—निवास-स्थान, चकार—बनाया।

अर्थ: — जीवधारियों की रक्षा में आसक्त चित्त वाले श्रीमान् नेमिनाथ ने सांसारिक विषयवासनाओं से पराङ्मुख हो, समस्त स्वजनों को, अनुचर वर्ग के साथ सभी सुखों को तथा उग्रसेन की पुत्री राजीमती को छोड़कर, मुक्ति की इच्छा से घने नमेरु वृक्षों से युक्त रामगिरि नामक पर्वत के आश्रमों में अपना निवास-स्थान बनाया।

टिप्पणी — प्राणित्राणप्रवणहृदयः—नेमिनाथ के पिता समुद्रविजय ने अपने पुत्र का विवाह महाराज उग्रसेन की सुन्दरी-विदुषी कन्या राजीमती से निश्चित किया। राजसी वैभवानुसार नेमिनाथ के विवाहार्थ बारात भी गई। गिरिनगर में पशुओं की करुण चीत्कार को सुनकर नेमिनाथ की जिज्ञासा बढ़ गई। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये सारे पशु बारातियों के भोजनार्थ बलि हेतु लाए गए हैं तो मानसिक उद्वेलन से उनका मस्तिष्क काँप उठा तथा उसके निदान हेतु विवाह-बन्धन में बँधने की अपेक्षा वे वन को चले गये।

सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं,
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिर्धूतदोषम्।
योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

अन्वयः — सा राजपुत्री, तत्र, ध्याननिर्धूतदोषम्, नासान्यस्तानिमिषनयनम्, योगासक्तम्, उच्चैः शिखरिणि, समासीनम्, वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्, सजलजलद-श्यामलम्, एनं मुनीशम्, ददर्श।

सा तत्रोच्चैरिति। सा राजपुत्री-अथ नेमिनाथं रेवताद्रौ सम्प्राप्तं श्रुत्वा स्वप्रियमिलनगाढोत्कण्ठया व्याकुलमानसा स्वपित्रादिभिर्वार्यमाणापि प्रिय सखी सहायात् राज्ञःउग्रसेनस्य पुत्री-नेमिनाथस्य प्रिया राजीमतीत्यर्थः। तत्र-पर्वते। ध्याननिर्धूतदोषं ध्यानेन पराकृता रागद्वेषादयोः। नासान्यस्तानिमिषनयनं-नासिकायां स्थापिते ध्यानार्थं निमेषरहितं नेत्रम्। योगासक्तं-मोक्षोपायः श्रद्धान-ज्ञानाचरणात्मकस्तत्रासक्तम् आलीनम् इति। उच्चैः शिखरिणि-अत्युन्नतपर्वते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समासीनम्-उपविष्टमितिभावः । वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्-उत्खात केलि-संलग्न-तिर्यग्दन्त-प्रहार-हस्तिविलोकनीयम् । पर्वतश्रृङ्गसंलग्नं, यस्यां क्रीडायां हस्तिनः तिर्यग्भूय दन्तैः उच्चस्थानेषु प्रहारं कुर्वन्ति तस्यां क्रीडायां संलग्नं दर्शनीयं हस्तिनमिव इति भावः । सजलजलद-श्यामलं जलभृतो यो मेघस्तद्वत् नीलवर्णमित्यर्थः । एनं मुनीशं योगिस्वामिनं नेमिनाथम् । ददर्श-दृष्टवती । श्लोकेऽस्मिन् लुप्तोपमालंकारः ॥ २ ॥

शब्दार्थः — सा राजपुत्री—उस राजकुमारी (राजीमती) ने, तत्र—पर्वत पर, ध्याननिर्धूतदोषम्—ध्यान के द्वारा राग-द्वेषादि को समाप्त कर, नासान्यस्तानिमिषनयनम्—ध्यानार्थं नासिका पर (दृष्टि) टिकाये हुए अपलक नेत्रों वाले, योगासक्तम्—मोक्ष के उपाय में संलग्न, उच्चैः शिखरिणि—अत्यन्त उन्नत शिखर पर, समासीनम्—ध्यानस्थ बैठे हुए, वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्—तिरछे होकर खेल में टीले पर दाँतों से प्रहार करने वाले हाथी के समान देखने योग्य, सजलजलद-श्यामलम्—जल से पूर्ण मेघ कान्ति के सदृश नीलवर्ण (श्यामवर्ण) वाले, एनं मुनीशम्—इस मुनिस्वामी (नेमिनाथ) को, ददर्श—देखा ।

अर्थः — उस राजकुमारी (राजीमती) ने पर्वत पर ध्यान के द्वारा रागद्वेषादि को समाप्त करके ध्यानार्थं नासिका पर टिकाये हुए अपलक नेत्रों वाले, मोक्ष के उपाय में संलग्न, अत्यन्त उन्नत शिखर पर ध्यानस्थ बैठे हुए, तिरछे होकर खेल में टीले पर दाँतों से प्रहार करने वाले हाथी के समान देखने योग्य, जल से पूर्ण मेघ कान्ति के सदृश श्यामवर्ण वाले, इस मुनि स्वामी (नेमिनाथ) को देखा ।

टिप्पणी — वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्—उत्खात-केलिः श्रृङ्गाद्यैः वप्रक्रीडा निगद्यते । इति शब्दार्णवः । अर्थात् जिस खेल में पशु सींग या दाँत इत्यादि से प्रहार कर मिट्टी आदि कुरेदें उसे 'वप्रक्रीडा' कहते हैं । परन्तु हलायुध कोश के इस वाक्य "तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणमतो मतः" के अनुसार तिरछे होकर प्रहार करने वाले हाथी को 'परिणत' कहा जाता है । इस प्रकार 'परिणत' शब्द से हाथी का बोध हो जाने से पुनः गज पद की योजना करने से पुनरुक्त दोष हो जाता है । उक्त दोष के निवारण के लिए 'परिणत' शब्द का अर्थ संलग्न स्वीकार कर तथा गज के साथ परिणत का कर्मधारय समास मान लेने से पुनरुक्त दोष का निवारण हो जाता है;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वप्रक्रीडायां परिणतः — वप्रक्रीडापरिणतः; स चासौ गजश्च इति वप्रक्रीडा-परिणतगजः इति ।

उद्वीक्ष्येनं शमसुखरतं मेदुरांभोदनादै-
र्नृत्यत्केकिव्रजमथनगं प्रोन्मिषन्नीपपुष्पम् ।
सा शोकार्ता क्षितितलमगात् स्यान्न दुःखं हि नार्यः,
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ।। ३ ।।

अन्वयः — अथ मेदुराम्भोदनादैः, नृत्यत्केकिव्रजम्, प्रोन्मिषत्, नीपपुष्पम्, नगम्, उद्वीक्ष्य, शमसुखरतम्, एनम् (उद्वीक्ष्य) सा शोकार्ता, क्षितितलम्, अगात्, हि, नार्यः, दुःखम् न स्यात् कण्ठाश्लेषप्रणयिनि, जने, दूरसंस्थे, किं, पुनः ।

उद्वीक्ष्येनमिति । अथ मेदुराम्भोदनादैः-अनन्तरं पुष्टमेघध्वनिभिः । नृत्यत्केकिव्रजं क्रीडां कुर्वन् मयूरकलापम् इति । प्रोन्मिषत्-विकसन्ति नीप-पुष्पं कदम्बकुसुमानि यस्मिन्स तम् । नगं-पर्वतम् । उद्वीक्ष्य-दृष्ट्वा । शम-सुखरतम् उपशान्तिसुखोपगतम् । एनं नेमिनाथम्, (उद्वीक्ष्य-दृष्ट्वा) सा शोकार्ता-राज्ञः उग्रसेनस्य आत्मजा नेमिनाथस्य प्रिया राजीमती भर्त्रनुरागा-भावाच्छोकपर्याकुला शोकविह्वला वा सती इति भावः । क्षितितलं पृथ्वी-तलम् । अगात्-प्राप्ता । हि-यतोहि । नार्यः दुखं न स्यात् । (साऽपि) कण्ठाश्लेषप्रणयिनि-गलाऽऽलिङ्गनाभिलाषिणि । तर्हि जने-प्रियरूपे जने । दूर-संस्थे-असमीपस्थे (सति) । किं पुनः का वार्ता (विरहिणी जनस्य) । श्लोकेऽस्मिन् अर्थान्तरन्यास अलंकारः ।। ३ ।।

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, मेदुराम्भोदनादैः—गम्भीरमेघध्वनि से, नृत्यत्केकिव्रजम्—नाचते हुए मयूरों, प्रोन्मिषत्—खिलते हुए, नीपपुष्पम्—कदम्बपुष्पों (से युक्त), नगम्—पर्वत को, उद्वीक्ष्य—देखकर, शमसुखरतम्—वैषयिक रागादि से विरत होकर शान्ति सुख प्राप्ति में संलग्न, एनम्—अपने स्वामी नेमिनाथ को, (उद्वीक्ष्य—देखकर), सा शोकार्ता—वह राजीमती शोक से विह्वल होकर (मूर्च्छित होकर), क्षितितलम्—भूतल को, अगात्—प्राप्त किया, हि—क्योंकि (ऐसे समय में), नार्यः—(जो) स्त्रियाँ, दुःखम्—प्रियवियोग (में), न—नहीं, स्यात्—हों (वह भी अपने प्रिय को गले लगाना चाहती हैं, तब), कण्ठाश्लेषप्रणयिनि—गले लगाने वाले प्रिय, जने—जन के,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूरसंस्थे—दूर रहने या अलग रहने (पर), किं पुनः—तो फिर (क्या कहना)।

अर्थः — इसके बाद गम्भीर मेघध्वनि से नाचते हुए मयूरों (तथा) खिलते हुए कदम्ब पुष्पों से (युक्त) पर्वत को देखकर, वैषयिक रागादि से विरत होकर, शान्तिसुख (मोक्ष) प्राप्ति में संलग्न अपने स्वामी नेमिनाथ को (देखकर), वह राजीमती शोक से विह्वल हो (मूर्च्छित होकर) भूतल पर गिर पड़ी। क्योंकि (ऐसे समय में जो) स्त्रियाँ प्रियवियोग में नहीं हों, कदाचित् (वह भी अपने प्रिय को गले लगाना चाहती हैं। तब) गले लगाने वाले प्रिय के दूर रहने या अलग रहने पर कहना ही क्या ?

टिप्पणी — कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे—वर्षाकाल में ऐसी स्त्रियाँ भी जिनका पति पास में है वे भी अपने पति को गले से लगाने को उत्कण्ठित हो जाती हैं, तब वह राजीमती जिसका पति उससे अलग पर्वत पर समाधिस्थ है उसका ऐसे समय में अपने प्रिय को गले लगाने की उत्कण्ठा स्वाभाविक ही है।

आश्लेषः — आश्लेषणम् आश्लेषः— आङ् उपसर्गपूर्वक श्लिष् धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय। प्रणयी—'प्रणयमस्यास्तीति' विग्रह में 'अतइनिठनौ' सूत्र से 'इनि' प्रत्यय। दूरसंस्थे—संस्थानं संस्था 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु से भाव में 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से 'अङ्' प्रत्यय।

तां दुःखार्तां शिशिरसलिलासारसारैः समीरै-
राश्वास्येव स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः।
साध्वीमद्रिः पतिमनुगतां तत्पदन्यासपूतः,
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

अन्वयः — तत्पदन्यासपूतः, अद्रिः, शिशिरसलिलासारसारैः, समीरैः, स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः, पतिमनुगताम्, दुःखार्ताम्, साध्वीं ताम्, आश्वास्येव, प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनम्, स्वागतम्, व्याजहार।

तां दुखार्तामिति। तत्पदन्यासपूतःनेमिनाथस्य तस्य चरणरचनया पवित्रः इत्यर्थः। अद्रिः-पर्वतः। शिशिरसलिलासारसारैः-शीतलजलैः कृतो यः वेगवान् वर्षस्तेन प्रमुखैः। समीरैः वायुभिः। स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकसितवासकसुमनसुगन्धिभिः मत्तभ्रमराणां ध्वनिभिः। पतिमनुगतां भर्त्तारमनुप्राप्ताम् इति भावः। दुखार्तां-पीडितां पतिवियोगपीडिता इति भावः। साध्वीं, शोभनशीलाम्। तां-राजीमतीम्। आश्वास्य इव प्रीतः-प्रहृष्टः (सन्) प्रीतिप्रमुखवचनं-स्नेहप्रधानोक्ति यथास्यात्तथा इति। स्वागतं—शुभागमनं, व्याजहार-उवाच, राजीमत्याः स्वागतञ्चकारेत्यर्थः ॥ ४ ॥

शब्दार्थः — तत्पदन्यासपूतः—उसके चरणन्यास से पवित्र (हुआ), अद्रिः—पर्वत ने, शिशिरसलिलासारसारैः समीरैः—शीतल जल की तेज वर्षा करते हुए वायु से, स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः—विकसित हुए (खिले हुए) पर्वतीय पुष्पों की सुगन्धि से मदोन्मत्त भ्रमरों की (गुञ्जन) ध्वनि से, पतिमनुगताम्—पति का अनुसरण करने वाली (पतिव्रता), दुःखार्ताम्—पतिवियोग में पीडिता, साध्वीम्—सुन्दरी, ताम्—उस (राजमती) को, आश्वास्येव—सान्त्वना देते हुए के समान, प्रीतः—प्रसन्न, प्रीतिप्रमुखवचनम्—प्रेमपूर्ण वाक्यों के द्वारा, स्वागतम्—शुभागमन, व्याजहार—कहा।

अर्थः — नेमिनाथ के चरण रखे जाने से पवित्र (हुए) पर्वत ने शीतल जल की तेज वर्षा करते हुए वायु द्वारा, खिले हुए पर्वतीय पुष्पों की सुगन्धि से मदोन्मत्त भौरों की गुञ्जन ध्वनि द्वारा, पति का अनुगमन करने वाली पतिवियोग में पीड़िता सुन्दरी राजीमती को सान्त्वना देते हुए के समान, प्रसन्न होकर प्रेमपूर्ण वाक्यों द्वारा उसका स्वागत किया।

टिप्पणी — आसार—आ + सृ + घञ् प्रत्यय। किसी वस्तु की मूसलाधार बौछार। स्फुटित—स्फुट + क्त प्रत्यय। आमोदः — आ + मुद् + घञ् प्रत्यय। अद्रिः — अद् + क्रिन—पहाड़।

सिद्धेः संगं समभिलषतः प्राणनाथस्य नेमेः,
सा तन्वङ्गी विरहविधुरा तच्छिरोधिष्ठितस्य।
तं सम्मोहाद् द्रुतमनुनयं शैलराजं ययाचे,
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥

अन्वयः — तत्, शिरोधिष्ठितस्य, सिद्धेः सङ्गम्, समभिलषतः, विरहविधुरा, सा तन्वङ्गी, सम्मोहात्, प्राणनाथस्य नेमेः, अनुनयम्, तं शैलराजम्, द्रुतम्, ययाचे। हि कामाऽर्ताः, चेतनाऽचेतनेषु प्रकृतिकृपणाः (भवति)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धेः सङ्गमिति । तत् पर्वतस्य । शिरोधिष्ठितस्य शिखराग्रेनिषण्णस्य । सिद्धेः संगं मोक्षस्य संयोगम् । समभिलषतः अभिकाङ्क्षतः नेमिनाथं दृष्ट्वा । विरहविधुरा पतिवियोगपीडिता । सा तन्वङ्गी नेमिनाथस्य जाया राजीमती । सम्मोहात् चित्त-वैकल्यात् प्राणनाथस्य नेमेः । अनुनयं प्रसादनम् । तं शैलराजं पर्वतश्रेष्ठं रैवतकं प्रति इति भावः । द्रुतं शीघ्रम् । ययाचे याचयामास, पूर्वोक्तार्थमर्थान्तरन्यासेन प्रदर्शयति कामाऽर्तेति । हि यतः । कामाऽर्ताः माराऽऽकुलाः कामपीडिताः जनाः 'अयं चेतनः अयमचेतनः' इति विवेकशून्याः स्वभावेनैव भवन्ति इत्यर्थः । चेतनाऽचेतनेषु सजीव-निर्जीवेषु । प्रकृतकृपणाः औत्सर्गिकदर्याः (भवन्ति) । मदनेन व्याकुलीकृतानां कर्तव्याऽकर्तव्यविषयक-विवेकशून्यत्वेन अचेतनमपि शैलराजं प्रति याचना नाऽनुपयुक्ता इति भावः । श्लोकेऽस्मिन् अर्थान्तरन्यासोपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

शब्दार्थः — तत्—उस (पर्वत) के, शिरोधिष्ठितस्य—शिखर के अग्र-भाग पर स्थित, सिद्धेः—मोक्ष की, संगम्—संयोग, समभिलषतः—इच्छा करते हुए, विरहविधुरा—पतिवियोग से पीड़िता, सा तन्वङ्गी—वह दुबली-पतली शरीर वाली, सम्मोहात्—चित्त की विकलता के कारण, प्राणनाथस्य नेमेः—अपने स्वामी नेमि को, अनुनयम्—प्रसन्न करने की, तं शैलराजम्—उस पर्वतराज रैवतक से, द्रुतम्—शीघ्र, ययाचे—याचना की, हि—क्योंकि, कामाऽर्ताः—कामान्ध, चेतनाऽचेतनेषु—जीव और निर्जीव वस्तुओं के विषय में, प्रकृतकृपणाः—स्वाभाविक रूप से विवेक शून्य हो जाते हैं ।

अर्थः — उस (पर्वत) की ऊँची चोटी पर स्थित मोक्ष की कामना करते हुए (अपने पति नेमिनाथ को देखकर), पतिवियोगपीड़िता उस कृशाङ्गी राजीमती ने चित्त की विह्वलता के कारण अपने स्वामी नेमिनाथ को प्रसन्न करने की उस पर्वतराज रैवतक से शीघ्र ही याचना की, क्योंकि कामान्ध जन 'यह जीव है', 'यह अचेतन है', इस प्रकार के विवेक से शून्य स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं ।

टिप्पणी — ययाचे—√याच्, लिट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन। प्रकृतकृपणाः—यहाँ 'प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्' सूत्र से तृतीया होकर तृतीया तत्पुरुष समास हुआ है । चेतनाचेतनेषु चेतनाश्च अचेतनाश्च, चेतनाऽचेतना-तेषु इति द्वन्द्वसमासः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा तं दूना मनसिजशरैर्यादवेशं बभाषे,
रक्षत्यार्तं शरणागमसौ क्षत्रियस्येति धर्मः ।
तन्मां स्वामिन्नव भवदधीना समभ्यर्थये त्वां,
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।। ६ ।।

अन्वयः — मनसिजशरैः, दूना, सा, तम्, यादवेशम्, बभाषे, शरणागम्, आर्तम्, रक्षति इति असौ, क्षत्रियस्य, धर्मः, तत् स्वामिन्, भवत् अधीना (अहम्), त्वाम् समभ्यर्थये, माम्, अव, अधिगुणे, याञ्चा, मोघा वरम्, अधमे लब्धकामा, अपि, न (वरम्) ।

सा तमिति । मनसिजशरैः मदनबाणैः । दूना व्यथिता संतापिता वा । सा राजीमती । तं यादवेशं नेमिनाथं प्रति । बभाषे अभाणीत् । शरणागं शरणप्राप्तम् । आर्तं पीडितं रक्षति पालयति इति । असौ क्षत्रियस्य धर्मः असौ क्षत्रियवंशोत्पन्नस्य क्षत्रवंशोद्भवस्य वा धर्मः । तत् तस्मात् हेतोः स्वामिन् । भवत् अधीना त्वयि आश्रिता अहम् । त्वां समभ्यर्थये त्वयि प्रार्थनां करोमि, हे नाथ ! क्षत्रियाणां वंशे उत्पन्नं प्रधानपुरुषं भवन्तमहं जानामि, अतएव दैवदुर्विपाकात् भवतः दूरस्थोऽहं भवत्सकाशं याचकत्वेनागता इति भावः । माम् अबलां, अव रक्षेति भावः । अधिगुणे गुणशालिनि पुरुषे । याञ्चा याचना, मोघा व्यर्था अपि, वरं श्रेष्ठा इति । अधमे गुणरहिते पुरुषे । लब्धकामा अपि पूर्णमनोरथा अपि (याञ्चा) न (वरम्) इत्यर्थः । श्लोकेऽस्मिन् अर्थान्तरन्यासालङ्कारः ।। ६ ।।

शब्दार्थः — मनसिजशरैः—कामबाण से, दूना—व्यथित, सा—राजीमती ने, तम्—उससे, यादवेशम्—नेमिनाथ से, बभाषे—कहा, शरणागम्—शरणागत, आर्तम्—पीड़ित, रक्षति—रक्षा करता है, इति असौ—यही, क्षत्रियस्य धर्मः—क्षत्रिय का धर्म, तत्—उसके कारण, स्वामिन्—हे प्राणनाथ, भवत्—आपके, अधीना—आश्रित (मैं), त्वाम्—तुमसे, समभ्यर्थये—प्रार्थना करती हूँ, माम्—अबला (राजीमती) की, अव—रक्षा करो, अधिगुणे—गुणी व्यक्ति के पास, याञ्चा—याचना, मोघा—निष्फल (भी), वरम्—अच्छी है; (परन्तु) अधमे—गुणरहित व्यक्ति के पास, लब्धकामा अपि—पूर्ण अभिलाषा होने पर भी, न—नहीं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः — काम बाण से सन्तप्त राजीमती ने अपने स्वामी नेमिनाथ से कहा — शरण में आये पीड़ितों की रक्षा करना यही क्षत्रिय का धर्म है, उस हेतु हे प्राणनाथ ! तुम्हारे आश्रित (रहने वाली मैं) तुमसे प्रार्थना करती हूँ (कि) मुझ अबला (राजीमती) की रक्षा करो। क्योंकि (आप के समान) गुणी व्यक्ति के पास की गई याचना यदि निष्फल भी हो जाय तो अच्छी है, परन्तु निर्गुणी व्यक्ति के पास की गई सफल याचना भी अच्छी नहीं है।

टिप्पणी — पूर्व श्लोक में राजीमती अपने प्राणनाथ को प्रसन्न करने के लिए पर्वतराज रैवतक से याचना करती है। परन्तु उसने जिसे प्रसन्न करने के लिए पर्वतराज रैवतक से याचना की थी वह उसका प्राणनाथ नेमि था। अतः राजीमती ने स्वयं नेमिनाथ से अपनी रक्षा के लिए कहा। नेमिनाथ गुणवान् थे तथा गुणवान् व्यक्ति से की गई निष्फल याचना भी उत्तम है, न कि नीच व्यक्ति से की गई सफल याचना।

याञ्चा — याचना अर्थ में विद्यमान 'याच्' धातु से 'यजयाचयतविच्छ-प्रच्छरक्षो नङ्' सूत्र से 'नङ्' प्रत्यय पश्चात् 'स्तोः श्चुनाश्चुः' से श्चुत्व एवं स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' करके 'याञ्चा' शब्द बना है।

तुङ्गं शृंगं परिहर गिरेरेहि यावः पुरीं स्वां,
रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालम् ।
शोभासाम्यं कलयति मनाग्नालका नाथ ! यस्याः,
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ ७ ॥

अन्वयः — (हे) नाथ ! गिरेः तुंगम्, शृङ्गम्, परिहर, एहि, (तथा) रत्न-श्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालम्, स्वां पुरीम्, यावः, यस्याः, शोभासाम्यम्, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या, अलका, मनाग्, न, कलयति।

तुंगमिति। (हे) नाथ ! गिरेः तुंगं शृंगं परिहर एहि हे नाथ ! पर्वतस्य अत्युच्चं शिखरं परित्यज आगच्छ इति। रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालं मणिशृंखलाभिः विनिर्मितानि यानि गृहाणि तैः प्रकाशितानि दिगंतरालानि यया सा ताम् इत्यर्थः। स्वां पुरीं निजद्वारिकाम्। यावः गच्छावः। यस्याः द्वारिकायाः शोभासाम्यं, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या बहिरारामे वर्तमानस्य शम्भोः मस्तके या ज्योत्स्ना तया प्रक्षालिताट्टालिका। अलका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यक्षेश्वराणां गुह्यकाधिपतीनां वा सा नगरी, मनाग् किञ्चिदपि न कलयति दधाति इत्यर्थः ॥ ७ ॥

शब्दार्थः — नाथ !—हे स्वामी !, गिरेः—पर्वत के, तुङ्गम्—अत्यन्त ऊँचे, शृङ्गम्—शिखर, परिहर—छोड़कर (त्यागकर), एहि—आओ, रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालम्—मणि-समूहों से निर्मित गृह जो प्रकाशित है समस्त दिशाओं में (ऐसे), स्वाम्—अपनी, पुरीम्—नगरी को, यावः—हम दोनों चलें, यस्याः—जिस नगरी की, शोभासाम्यम्—शोभा की तुलना में, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या—नगर से बाहर के उद्यान में विद्यमान शिवजी के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से जहाँ के महल धुल रहे हैं, अलका—कुबेर की अलका नाम की नगरी, मनाग्—अंशमात्र, न—नहीं, दधाति—धारण करती है।

अर्थः — हे नाथ ! पर्वत के अत्यन्त ऊँचे शिखर को त्यागकर आओ तथा विविधमणियों से निर्मित भवनों से, जो समस्त दिशाओं में प्रकाशित हैं, ऐसी अपनी द्वारिका नगरी को हम दोनों चलें, जिसकी कान्ति की तुलना में—जहाँ के भवन, नगर से बाहर स्थित उद्यान में विद्यमान शिवजी के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की ज्योत्सना से धुलते रहते हैं — ऐसी कुबेर की अलका नाम की नगरी भी तुच्छ है।

टिप्पणी — रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालम् के द्वारा बाह्योद्यान स्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या अलका से द्वारिका की विशेषता बतलाई गई है। बाह्यम्—'बहिस्' अव्यय है। इससे 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' सूत्र से 'यञ्' प्रत्यय एवं 'टि रूप' 'इस्' का लोप करके 'तद्धितेष्वचामदेः' सूत्र से ञित्वात् वृद्धि करके 'बाह्यम्' रूप बनता है।

आलोक्यैनं तरलतडिताऽऽक्रान्तनीलाब्दमालं,
प्रावृट्कालं विततविकसद्यूथिकाजातिजालम् ।
अन्तर्जाग्रद्विरहदहनो जीविताऽलम्बनेऽलं,
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ ८ ॥

अन्वयः — तरलतडिता, आक्रान्तनीलाब्दमालम्, विततविकसद्यूथिकाजातिजालम्, एनं प्रावृट्कालम्, आलोक्य, अंतर्जाग्रद्विरहदहनः, जीवितालम्बने, अहम्, इव, यः, जनः, पराधीनवृत्तिः, (स), अलम्, स्याद्, न अन्यः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलोक्यनेमिति । तरलतडिता—चपलाविद्युत्तया । आक्रान्तनीलाब्दमालं आश्लिष्टा कृष्णमेघश्रेणिर्यस्मिन्स तम् इत्यर्थः । विकसद्यूथिकाजातिजालं विस्तीर्णा मागधीपुष्पाणि तासां समूहो यस्मिन् स तम् । एनं प्रावृट्कालं एनं वर्षाकालम् । आलोक्य दृष्ट्वा, अन्तर्जाग्रद्विरहदहनः चित्ते परिस्फुरन् विरह एव अग्निर्यस्य सः । जीविताल्म्बने प्राणधारणे, अहमिव मत्समानः, यः जनः यो जनः । पराधीनवृत्तिः परकृतजीवनः । अलं स्यात् समर्थः न भवेत्, न अन्यः न अपरः, कोऽपि स्वतन्त्रः जनः इत्यर्थः ॥ ८ ॥

शब्दार्थः — तरलतडिताऽऽक्रान्तनीलाब्दमालम्—चञ्चला विद्युत से आश्लिष्ट कृष्ण मेघसमूह, विकसद्यूथिकाजातिजालम्—खिले हुए मालतीपुष्प समूह (से युक्त), एनं प्रावृट्कालम्—इस वर्षाकाल को, आलोक्य—देखकर, अन्तर्जाग्रद्विरहदहनः—हृदय में प्रज्वलित विरहाग्नि में जलते हुए, जीवितालंबने—प्राणधारण (करने) में, अहमिव—मेरी तरह, यः जनः—जो जन, पराधीनवृत्तिः—पराधीन जीवन वाला, अलं स्यात्—समर्थ न हो, न—नहीं, अन्यः—दूसरा (स्वतन्त्र जन) ।

अर्थः — (हे नाथ !) चञ्चला विद्युत (कान्ति) से युक्त काले मेघ समूहों (तथा) खिले हुए मालतीपुष्प समूहों से (युक्त) इस वर्षाकाल को देखकर हृदय में प्रज्वलित विरहाग्नि में जलते हुए, मेरी तरह जो जन पराधीन अर्थात्, मेरी तरह जिनकी जीविका दूसरे के अधीन है, वही अपना जीवन धारण (करने) में समर्थ नहीं हैं, न कि जो जन स्वतन्त्र हैं (इसलिए हे नाथ ! आप द्वारिका चलें) ।

टिप्पणी — जीवितालम्बने— श्रावण मास में काले मेघ समूहों को देखकर प्रियवियोग में जीवन धारण कर पाना कठिन हो जाता है । पराधीनवृत्तिः—ऐसे व्यक्ति जिनकी जीविका दूसरे के ऊपर निर्भर रहती है । राजीमती का पति नेमिनाथ पर्वत पर मोक्षोपाय में लगा हुआ, जबकि राजीमती की जीविका नेमिनाथ के अधीन (आश्रित) है । पराधीनवृत्तिः—वर्तनार्थक वृत धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय होने से 'वृत्ति' शब्द बनता है, 'परस्मिन्नधीना-वृत्ति—पराधीनवृत्तिः' ।

अस्मादद्रेः प्रसरति मरुत्प्रेरितः प्रौढ़नादै-
भिन्दानोऽयं विरहिजनताकर्णमूलं पयोदः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यं दृष्ट्वैताः पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाऽऽभाः,
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ९ ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) अस्मादद्रेः मरुत्प्रेरितः, अयं पयोदः, विरहिजनताकर्णमूलम्, प्रौढ़नादैः, भिन्दानः, प्रसरति, यम्, दृष्ट्वा, पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाऽऽभाः, एताः बलाकाः खे, नयनसुभगम्, भवन्तम्, सेविष्यन्ते ।

अस्मादद्रेः इति । (हे नाथ !) अस्मादद्रेः एतस्मात् पर्वताद् । मरुत्प्रेरितः वायुचलितः उत्तेजितः इत्यर्थः । अयं पयोदः एषो मेघः । विरहिजनताकर्णमूलं वियोगिलोकसमूहश्रोत्रविवरम् । प्रौढनादैः प्रवृद्धध्वनिभिः, गम्भीरध्वनिभिरित्यर्थः । भिन्दानो प्रसरति विदारयन् प्रवर्त्तते । यं मेघम् दृष्ट्वा वीक्ष्य अवलोक्येत्यर्थः । पथिकवदनाम्भोजचन्द्रतपाभाः पान्थप्रियामुखाब्जेषु चन्द्रातप इव कौमुदीवत् कान्तिः । एताः बलाकाः इमाः बकप्रियाः बलाकादर्शनाद्विरहिजनमुखाम्भोजानि म्लायन्तीतिभावः, खे आकाशे नयनसुभगं दर्शनप्रियम्, भवन्तं त्वां, भवतोऽपि नीलवर्णत्वात् तद्बुद्ध्येति भावः । सेविष्यन्ते समुपचारयिष्यन्तीति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः — (हे नाथ !) अस्मादद्रेः—इस पर्वत से, मरुत्प्रेरितः—वायु से उत्तेजित किया गया, अयं पयोदः—यह मेघ, विरहिजनताकर्णमूलम्—वियोगियों के कर्णविवर को, प्रौढनादैः—गम्भीरध्वनि से, भिन्दानः—विदीर्ण करता हुआ, प्रसरति—फैल रहा है, यम्—मेघ को, दृष्ट्वा—देखकर, पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाभाः—पथिकप्रिया के मुख-कमल को म्लान करने वाली चन्द्रज्योत्स्ना की तरह, एताः बलाकाः—ये बगुलियाँ, खे—आकाश में, नयनसुभगम्—देखने में सुन्दर, भवन्तम्—तुम्हारा, सेविष्यन्ते—आश्रयण करेंगी।

अर्थः — (हे नाथ !) इस पर्वत से वायु द्वारा उत्तेजित किया गया यह मेघ, वियोगियों के कर्णविवर को (अपनी) गम्भीर ध्वनि द्वारा विदीर्ण करता हुआ फैल रहा है, जिस (मेघ) को देखकर पान्थप्रिया के मुख-कमल को म्लान करने वाली चन्द्रज्योत्स्ना की तरह ये बगुलियाँ (नीलवर्ण मेघ कान्ति के सदृश) नेत्रों के लिए प्रियकर (अपनी नगरी जाते समय) तुम्हारा आश्रय लेंगी।

वीक्ष्याकाशं नवजलधरश्याममुद्दामकामा-
विर्भावेन व्यथितवपुषो योषितो विह्वलायाः ।

काले कोऽस्मिन् वद यदुपते ! जीवितेशादृतेऽन्यः,
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।। १० ।।

अन्वयः — (हे) यदुपते ! नवजलधरश्यामम्, आकाशम्, वीक्ष्य, उद्दाम कामाविर्भावेन व्यथितवपुषः, विह्वलायाः, योषितः, विप्रयोगे, सद्यः पाति-प्रणयि हृदयम्, जीवितेशाद्, ऋते, कः, अन्यः, अस्मिन् काले, रुणद्धि, वद ।

वीक्ष्याकाशमिति । यदुपते ! नवजलधरश्यामम् आकाशं वीक्ष्य हे नाथ ! नूतनमेघकृष्णं नभो खं वा अवलोक्य । उद्दामकामाविर्भावेन व्यथितवपुषः उत्कटमनोभवोल्लासेन पीडितं शरीरं यस्या सा तस्याः राजीमत्याः इत्यर्थः । विह्वलायाः योषितः विक्लवायाः स्त्रियः राजीमत्याः । विप्रयोगे विरहे प्रेमिणः इति शेषः । सद्यः पाति प्रणयि हृदयं तत्क्षणविनाशशीलं प्रेमपूर्णं जीवनम् प्रणयाभावात् प्रायः कठिनहृदयाः स्त्रियो भवन्तीति भावः । जीवितेशाद् ऋते भर्त्तुः विना इत्यर्थः । कः अन्यः कोऽपरः, अस्मिन् काले वर्षासमये । रुणद्धि वद नह्यति त्वं कथय ।। १० ।।

शब्दार्थः — यदुपते—हे प्राणनाथ नेमि, नवजलधरश्यामम्—नूतन (जल को धारण करने वाले) कृष्णमेघ वाले आकाशम्—आकाश को, वीक्ष्य—देखकर, उद्दामकामाविर्भावेन—उत्कट काम के आविर्भाव से, व्यथितवपुषः—पीडित शरीर, विह्वलायाः योषितः—विह्वल स्त्री का, विप्रयोगे—(पति के) विरह में, सद्यः पाति—तुरन्त टूट जाने वाला, प्रणयिहृदयम्—प्रेमयुक्त हृदय को, जीवितेशाद्—प्रिय के, ऋते—विना, कः—कौन, अन्यः—दूसरा, अस्मिन् काले—वर्षा समय में, रुणद्धि—रोके रहता है, वद—बोलो ।

अर्थः — हे प्राणनाथ यदुपते ! नूतन (जल को धारण करने वाले) कृष्णमेघ वाले आकाश को देखकर, उत्कट काम के आविर्भाव से पीड़ित शरीर वाली विह्वला स्त्री के, पति के विरह में तुरन्त टूट जाने वाले प्रेमयुक्त हृदय को पति के अतिरिक्त दूसरा कौन वर्षाकाल में रोके रहता है, बोलो ।

टिप्पणी — सद्यः पाति—सद्यः पतितुं शीलमस्य, इस विग्रह में सद्यस् इस उपपदपूर्वक 'पत्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय करके 'उपपदमतिङ्' से समास करके वृद्धयादि करके सद्यः पाति ऐसा रूप बनता है। सद्यः पातिहृदयम्—अर्थात् पति के विरह में जीवन धारण करने वाली स्त्री कठिन हृदया होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैलप्रस्थे जलदतमसाऽऽच्छादिताशाम्बरेण,
स्निग्धश्यामांजनचयरुचाऽऽसादिताभिन्नभावाः ।
यामिन्योऽमूर्विहितवसतेर्वासरा चाजनेऽस्मिन्,
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।। ११ ।।

अन्वयः — (हे नाथ !) अस्मिन्, अजने शैलप्रस्थे, विहितवसतेः स्निग्ध-श्यामांजनचयरुचा, जलदतमसा, आच्छादिता आशाम्बरेण, अमू यामिन्यर्वासराः, सादिताभिन्नभावाः, च, नभसि, राजहंसाः, भवतः, सहायाः, संपत्स्यन्ते ।

शैलप्रस्थेति । अस्मिन् अजने शैलप्रस्थे हे नाथ ! अस्मिन् जनरहिते पर्वते विहितवसतेः कृतनिवासस्य श्रावणमासे इति शेषः । स्निग्धश्यामांजन-चयरुचा सान्द्रकृष्णजालकान्तिरिव, जलदतमसा मेघान्धकारेण । आशाम्बरेण दिगाकाशेन । अमू यामिन्यः वासराश्च आच्छादिता सादिताभिन्नभावाः आवृते सति प्राप्तैकत्वभावाः । निशः अह्नश्च, विशेषपरिज्ञानं न भवितुं शक्नोति इति भावः । नभसि आकाशे । राजहंसाः श्रेष्ठहंसाः, भवतः सहायाः नेमेः अनुगामिनः, अनुचरारित्यर्थः । सम्पत्स्यन्ते भविष्यन्ति, रात्रिरह्नश्च विशेष-ज्ञानस्य विषयो भवति श्रेष्ठहंसाः इति भावः । अत एव पर्वतोऽयं भवतः निवासयोग्यः नास्ति ।। ११ ।।

शब्दार्थः — अस्मिन्—इस, अजने—जनरहित, शैलप्रस्थे—पर्वत पर, विहितवसतेः—निवास करने से, स्निग्धश्यामांजनचयरुचा—गाढकाले अञ्जन की कान्ति सदृश, जलदतमसा—मेघान्धकार से, आच्छादिता— आच्छादित (व्याप्त), आशाम्बरेण—दिग् रूपी आकाश के कारण, अमू यामिन्यः—रात्रि का, वासराः—दिन का, सादिताभिन्नभावाः—एकत्व भाव को प्राप्त, च—तथा, नभसि—आकाश में, राजहंसाः—श्रेष्ठ हंस समूह, भवतः—आपका, सहायाः—अनुगामी, संपत्स्यन्ते—होंगे ।

अर्थः — (हे नाथ !) इस जनरहित पर्वत पर आपके निवास करने से गाढ़काले अञ्जन (काजल) कान्ति सदृश मेघान्धकार द्वारा आच्छादित दिशा रूपी आकाश के कारण ये रात्रि तथा दिन के एकत्वभाव को प्राप्त हो जाने पर (उसके ज्ञान में) आकाश में (उड़ने वाले) श्रेष्ठहंससमूह आपके सहायक हों ।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

तन्मत्वैवं व्रज निजपुरीं द्वारिकां सत्सहायै-
र्गोविन्दाद्यैः सममनुभवासाद्य राज्यं सुखानि ।
जाते तेषां यदुवर ! पुनः सङ्गमे भाविनी ते,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम् ॥ १२ ॥

अन्वयः — (हे) यदुवर ! तत् एवम् मत्वा, निजद्वारिकाम्, पुरीम्, व्रज (तत्र) गोविन्दाद्यैः, सत्सहायैः, समम्, राज्यम्, आसाद्य, सुखानि, अनुभव, पुनः, तेषां, सङ्गमे, जाते, भाविनी ते चिरविरहजम्, उष्णम्, वाष्पम्, मुञ्चतः स्नेहव्यक्तिः ।

तन्मत्वैवमिति । यदुवर ! तन्मत्वैवं निजपुरीं द्वारिकां हे यदुश्रेष्ठ प्राणनाथ ! अत एव मद्वचनमवधार्य स्वीयद्वारिकां नगरीम्, व्रज गच्छ । गोविन्दाद्यैः सत्सहायैः विष्णुप्रमुखैः सदनुचरैः । समं राज्यमासाद्य सार्धं राष्ट्रं प्राप्य । सुखानि अनुभव विषयसौख्यानि आस्वादय । पुनः तेषां सङ्गमे जाते पुनः विष्णुप्रभृतीनां संयोगे प्राप्ते सति । भाविनी ते चिरविरहजं नेमिनासंयोगभावयुक्ता तव दीर्घकालिक-विरहजन्यम् । उष्णं वाष्पं मुञ्चतः स्नेव्यक्तिः तप्तम् अश्रुः त्यजतः प्रेमप्राकट्यं करिष्यन्ति इत्यर्थः ॥ १२ ॥

शब्दार्थः — यदुवर—हे यदुश्रेष्ठ ! तत्—अतएव, एवम्—ऐसा, मत्वा—मान करके, निज—अपनी, द्वारिकाम्—द्वारिका को, पुरीम्—नगरी को, व्रज—जाओ, गोविन्दाद्यैः—विष्णुप्रभृति, सत्सहायैः—सच्चे अनुचरों के, समम्—साथ, राज्यम्—राज्य को, आसाद्य—प्राप्त करके, सुखानि—विषय सुखों को, अनुभव—आस्वादन करो, पुनः—फिर, तेषाम्—उनके, सङ्गमे—संयोग में, जाते—प्राप्त होने पर, भाविनी—नेमि संयोग भाव से युक्त, ते—तुम्हारे, चिरविरहजम्—बहुत दिनों के वियोग से उत्पन्न, उष्णम्—गर्म, वाष्पम्—आँसू, मुञ्चतः—छोड़ते हुए, स्नेहव्यक्तिः—प्रेमाभिव्यक्ति ।

अर्थः — हे यदुश्रेष्ठ ! मेरे वचन को मानकर अपनी द्वारिका नगरी को चलो तथा वहाँ विष्णु प्रभृति सच्चे अनुचरों के साथ राज्य को प्राप्त करके विषय सुखों का आस्वादन करो । उनके साथ पुनः संयोग होने पर, नेमिसंयोग भाव से युक्त (वे लोग) तुम्हारे बहुत दिनों के वियोग से उत्पन्न गर्म आँसू छोड़ते हुए प्रेमाभिव्यक्ति करेंगे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणी — चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्—बहुत दिनों के बाद मिलन होने पर मित्रों के आँखों से आँसू गिरना स्वाभाविक है। व्यक्तिः—'वि' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्ज्' धातु से भाव में 'क्तिन' प्रत्यय।

वन्यहारा धृतमुनिजनाऽऽचारसाराः सदारा,
यां नाथान्तेवयसि सुधियः क्षत्रियाः संश्रयन्ते।
किं तारुण्ये गिरिवनभुवं सेवसे तां तपोभिः,
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपभुज्य॥ १३॥

अन्वयः — (हे) नाथ! सुधियः, क्षत्रियाः, अन्तेवयसि, वन्यहाराः, मुनिजनाऽऽचारसाराः, धृतः, सदारा, यां गिरिवनभुवम्, संश्रयन्ते, तां (त्वं) तारुण्ये, तपोभिः, क्षीणः क्षीणः (सन्), स्रोतसां, परिलघुपयः, च उपभुज्य, किम्, सेवसे।

वन्यहारेति। नाथ! सुधियः क्षत्रियाः अन्तेवयसि परिणतबुद्धयः क्षत्रियाः वृद्धावस्थायाम्। वन्यहारा वने साधवो वन्या-व्रीह्यादयस्तेषामाहारोभक्षणं येषां ते वन्यहाराः इत्यर्थः। मुनिजनाऽऽचारसाराः धृतः मुनिजनानां प्रधान-क्रियाविशेषाम् अङ्गीकृतः। सदारा यां गिरिवनभुवं संश्रयन्ते सपत्नीकः गिरिवन-वसुधाम् आश्रयन्ति। तां अद्रिकाननपृथिवीम्। तारुण्ये तपोभिः त्वं युवावस्थायां तपोभिः। क्षीणः क्षीणः स्रोतसां भूयानल्पशरीरः सन् पर्वतनदीप्रवाहाणाम्। परिलघुपयश्च उपभुज्य गौरवदोषहीनं जलञ्च पीत्वा। किं सेवसे किमर्थं सेवसे, एतद्वयस्येतत्कर्मणोऽनुचितमिति भावः॥ १३॥

शब्दार्थः — नाथ—स्वामी, सुधियः—परिपक्व बुद्धि वाले, क्षत्रियाः—क्षत्रिय (राजा) लोग, अन्तेवयसि—वृद्धावस्था में, वन्यहाराः—वन के कन्द-मूल को खाने वाले, मुनिजनाऽऽचारसाराः—मुनिजनों के प्रधानक्रिया विशेष, धृतः—ग्रहण करके (धारण करके), याम्—जिस, गिरिवनभुवम्—पर्वतीय जंगलीय पृथ्वी को, सदाराः—पत्नी के साथ, संश्रयन्ते—आश्रय लेते हैं, ताम्—उसको, तारुण्ये—युवावस्था में, तपोभिः—तपस्या के द्वारा, क्षीणः-क्षीणः—बार-बार दुबला होकर, स्रोतसाम्—पर्वतीय नदियों के, परिलघु—हल्के, पयश्च—जल को, उपभुज्य—पीकर, किम्—क्या, सेवसे—सेवा करते (निवास करते) हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः — हे स्वामी ! परिणत बुद्धि वाले क्षत्रिय राजा वृद्धावस्था में, वनों के कन्द-मूलादि को खाने वाले मुनिजनों के प्रधान क्रियाविशेष को धारण करके पत्नी के साथ जिस पर्वत का आश्रय लेते हैं, उस पर्वतीय जंगली पृथ्वी को तुम युवावस्था में तपस्या द्वारा अत्यन्त दुर्बल होकर, पर्वतीय नदी के प्रवाहों का जल पीकर, क्यों सेवा (निवास) करते हो ?

टिप्पणी — क्षीणः—क्षयार्थक 'क्षि' धातु से 'क्त'—प्रत्यय होकर 'क्षियो दीर्घात्' सूत्र से दीर्घ होकर नत्व, णत्वादि होकर क्षीण शब्द बनता है। परि-लघु—परितः लघुः परिलघु। यहाँ 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से समास हुआ है। उपभुज्य = उप + भुज् + क्त्वा प्रत्यय।

काऽत्र प्रीतिस्तव नगवने चारुतद्द्वारिकाया-
स्त्यक्त्वोद्यानं युवयदुजनोन्मादि यत्रासुरारिः।
निर्जित्येन्द्रं ससुरमनयत्पारिजातं द्युलोकाद्,
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥ १४ ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) यत्र, असुरारि, ससुरम्, इन्द्रम्, निर्जित्य, पथि, दिङ्नागानां स्थूलहस्तावलेपान्, परिहरन्, द्युलोकात्, पारिजातम्, अनयत्, युवजनोन्मादि द्वारिकायाः चारु तद् उद्यानम्, त्यक्त्वा, अत्र, नगवने, तव, का प्रीतिः।

काऽत्रेति। यत्र असुरारिः द्वारिकायारामे देवकीपुत्रः कृष्णः। ससुरमिन्द्रं निर्जित्य अमरसहितमिन्द्रं पराजित्य, विजित्य वा। पथि दिङ्नागानां स्थूल-हस्तावलेपान् मार्गेदिग्गजानां विशालशुण्डप्रहारान्, परिहरन् परित्यजन्। द्युलोकात् पारिजातमनयत् स्वर्गलोकात् पुष्पविशेषं कल्पवृक्षं प्रापयत् इति। युवजनोन्मादि युवानस्तरुणा ये यदुजनाः तानुन्मादयतीति भावः। द्वारिकायाः चारुः स्वीयनगर्याः मनोहरम्। तद् उद्यानं त्यक्त्वा परित्यज्य। अत्र नगवने अस्मिन् पर्वतकानने, तव का प्रीतिः ? कः आनन्दः येनात्र निवससि अहं न जानामि इति भावः ॥ १४ ॥

शब्दार्थः — यत्र —जहाँ, असुरारिः – भगवान कृष्ण, ससुरम्—देवता-सहित, इन्द्रम्—सहस्रलोचन को, निर्जित्य—पराजित करके, पथि—मार्ग में, दिङ्नागानाम्—दिग्गजों के, स्थूलहस्तावलेपान्— लम्बी-लम्बी सूड़ों के प्रहारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को, परिहरन्—छोड़ता हुआ, द्युलोकात्—स्वर्गलोक से, पारिजातम्—पारिजात पुष्प के वृक्ष को, अनयत्—लाया, युवजनोन्मादि—युवाओं को उन्मादित करने वाली, द्वारिकायाः—द्वारिका की, चारुः—मनोहर, तद्—उस, उद्यानम्—बगीचे को, त्यक्त्वा—छोड़कर, अत्र—यहाँ, नगवने—पर्वतीय वन में, तव—तुम्हारा (नेमि का), का—कौन, प्रीतिः—आनन्द ।

अर्थः — हे नाथ ! जिस द्वारिका के उद्यान में, भगवान् कृष्ण ने देवों-सहित इन्द्र को युद्ध में पराजित करके, गगन मार्ग में दिग्गजों के लम्बे-लम्बे सूड़ों के आक्रमण से बचते हुए, स्वर्गलोक से पारिजात पुष्प के वृक्ष को लगाया, इस प्रकार की, युवाओं को उन्मादित करने वाली द्वारिका की मनोहर उस उद्यान को छोड़कर, इस पर्वतीय वन में क्यों प्रीति है, अर्थात् किस आनन्द के निमित्त तुम पर्वतीय वन का सेवन कर रहे हो ।

टिप्पणी — दिङ्नागानाम्—दिशां नागाः षष्ठी तत्पुरुष समास, स्थूलहस्तावलेपान् - स्थूलश्च ते हस्ताः षष्ठी तत्पुरुष समास, परिहरन्—परि + हृ (धातु से वर्तमानकालिक लट् लकार के स्थान में) + शतृ (आदेश करके) ।

यत्प्रागासीदमलविलसद्भूषणाभाभिरामं,
भात्यारोहन्नवघनजलोद्भिन्नवल्लीचयेन ।
तत्ते नीलोपलतटविभाभिन्नभासाऽधुनाङ्गं,
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १५ ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) अमलविलसद्भूषणाभिरामम्, ते अङ्गम्, यत्, प्राग्, आसीत्, अधुना, तत्, सा-भा, आरोहन्नवघनजलोद्भिन्नवल्लीचयेन, नीलोपलतटविभाभिन्न, स्फुरितरुचिना, बर्हेण, गोपवेषस्य, विष्णोः, इव भाति ।

यत्प्रागेति । अमलविलसद्भूषणाभिरामं हे नाथ ! निर्मलभास्यंदलंकारमनोहरम् । ते अङ्गं यत् तव शरीरस्य या कान्तिः, प्राग् गृहनिवासकाले आसीत् । अधुना तत्साभा आरोहन्नवघनजलोद्भिन्न सम्प्रति सा कान्तिः उर्ध्वमाक्रामन्नूतनमेघपानीयप्ररूढः । वल्लीचयेन नीलोपलतटविभाभिन्नः वीरुलतासमूहेन नीलमणयस्तैर्विभूषितं यत्तटं तस्य विभा-कान्तिस्तया भिन्ना आश्लिष्टा भा यस्य तेन इत्यर्थः । स्फुरितरुचिना धवलकान्तिना, बर्हेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोपवेषस्य पिच्छेन ग्वालवेषस्य, विष्णोरिव हरेर्यथा कान्तिः तथा शोभते इत्यर्थः ।। १५ ।।

शब्दार्थः — अमलविलसद्भूषणाभिरामम्—स्वच्छ चमकते हुए अलंकारों से मनोहर, ते—तुम्हारे, अङ्गम्—शरीर की, यत्—जो (कान्ति), प्राग्—पहले, आसीत्—थी, अधुना—सम्प्रति, तत्साभा—शरीर की वह कान्ति, आरोहन्नवघनजलोद्भिन्न—वर्षाकाल में ऊपर चढ़ते हुए नवीन मेघ से आश्लिष्ट, वल्लीचयेन—वीरुलतासमूहों द्वारा, नीलोपलतटविभाभिन्न—नीलमणि की तट की शोभा से आश्लिष्ट, स्फुरितरुचिना—उज्ज्वल कान्ति वाले, बर्हेण—मोर पंख से, गोपवेषस्य—ग्वालवेष धारण किये हुए, विष्णोः—कृष्ण के, इव—समान, भाति—शोभित होता है ।

अर्थः — (हे नाथ !) स्वच्छ चमकते हुए आभूषणों से मनोहर, तुम्हारे शरीर की कान्ति जो पूर्वकाल में थी, सम्प्रति वह कान्ति वर्षाकाल में ऊपर को चढ़ते हुए, नवीन जल को धारण करने वाले मेघ से आश्लिष्ट, वीरुलता-समूहों द्वारा नीलमणि तट की शोभा की तरह उज्ज्वल कान्ति वाले मोर पंख से ग्वाल वेष धारण किये हुए, कृष्ण की शोभा के समान प्रतीत हो रहा है ।

रम्याहर्म्यैः क्व तव नगरी दुर्गश्रृङ्गः क्व चाद्रिः,
क्वैतत्काम्यं तव मृदुवपुः क्व व्रतं दुःखचर्यम् ।
चित्तग्राह्यं हितमितिवचो मन्यसे चेन्ममालं,
किञ्चित् पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ।। १६ ।।

अन्वयः — (हे नाथ !), हर्म्यैः रम्या, तव नगरी क्व ? दुर्गश्रृङ्गः अद्रिः क्व ? तव, काम्यम्, मृदुवपुः क्व ? एतत्, दुःखचर्यम्, व्रतम्, क्व च ? चेत्, चित्तग्राह्यम्, हितमिति, मम, वचः, किञ्चित्, मन्यसे, (तर्हि) भूयः लघुगतिः पश्चाद्, एव, व्रज, अलम्, उत्तरेण ।

रम्याहर्म्यैः इति । हर्म्यैः रम्या तव नगरी क्व हे नाथ ! धनिनां गृहैः मनोहरा भवतः नेमेः द्वारिका कुत्र ? दुर्गश्रृङ्गः अद्रिः क्व तथा अतिविषमाणि कुटानि यस्य स पर्वतः कुत्र ? तव काम्यं मृदुवपुः क्व नेमेः कमनीयं सुकुमारं शरीरं कुत्र ? एतत् दुःखचर्यं व्रतं क्व च तथा एतद् दुःखानुष्ठेयं व्रतं कुत्र ? चेत् चित्तग्राह्यं हितमिति मम वचः हे नाथ ! यदि मनोभिलषणीयमत्युपकारकं राजीमत्याः गीः । किञ्चिन्मन्यसे मनागपि अवधार्यसे । तर्हि भूयः लघुगतिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः द्रुतगमनः सन् । पश्चादेव व्रज, द्वारिकायामेव गच्छ, अलमुत्तरेण अलं प्रतिवचनेन, प्रतिवचनेन किं भविष्यति इत्यर्थः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः — हर्म्यैः—धनिकों के घरों से, रम्या—मनोहर, तव—तुम्हारी (नेमि की), नगरी—पुरी, क्व—कहाँ, दुर्गश्रृङ्गः—विषम शिखर वाला, अद्रिः—पर्वत, क्व—कहाँ, तव—तुम्हारा, काम्यम्—सुन्दर, मृदुवपुः—कोमल शरीर, क्व—कहाँ, च—तथा, एतत्—यह, दुःखचर्यम्—दुःखपूर्वक अनुष्ठेय, व्रतम्—तपस्या, क्व—कहाँ, चेत्—यदि, चित्तग्राह्यम्—मनोभिलषणीय, हितमिति—हितकारी, मम—मेरी (राजीमती की), वचः—वाणी, किञ्चित् —थोड़ा भी, मन्यसे—मानते हो (तो), भूयः—पुनः, लघुगतिः (सन्)— तेजगति वाला होकर, पश्चाद्—द्वारिका, एव—ही, व्रज—जाओ (चलो), अलम्—व्यर्थ, उत्तरेण—उत्तरप्रत्युत्तर से ।

अर्थः — (हे नाथ !) धनिकों के गृहों से मनोहर तुम्हारी द्वारिका नगरी कहाँ ? तथा विषमशिखर वाला पर्वत कहाँ ? कहाँ तुम्हारा यह सुन्दर कोमल शरीर और कहाँ, दुःखपूर्वक अनुष्ठान योग्य तुम्हारी तपस्या ? हे नाथ ! यदि मनोभिलषणीय हितकारी मेरी वाणी को थोड़ा सा भी मानते हो तो, पुनः यहाँ से अपनी द्वारिका नगरी चलो। उत्तर प्रत्युत्तर से कोई लाभ नहीं ।

टिप्पणी — उत्तरेण—यहाँ 'प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्' सूत्र से तृतीया विभक्ति । यहाँ 'उत्तरेण' का अर्थ उत्तर दिशा न होकर 'उत्तरप्रत्युत्तर' से अभिप्राय है; क्योंकि उत्तर-प्रत्युत्तर से समय ही नष्ट होगा ।

कुर्वन् पान्थांस्त्वरितहृदयान् संगमायाङ्गनाना-
मेनं पश्यधिगतसमयः स्वं वयस्यं मयूरम् ।
जीमूतोऽयं मदयति विभो ! कोऽथ वाऽन्योऽपि काले,
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७ ॥

अन्वयः — (हे) विभो ! अधिगत-समयः (त्वम्), एनम्, पश्य, अयं जीमूतः, पान्थान् हृदयान्, अङ्गनानाम्, संगमाय, त्वरित, कुर्वन्, स्वं वयस्यम्, मयूरम्, मदयति, अथ, कः, वा, अन्योऽपि, काले, मित्रे प्राप्ते (सति), विमुखः भवति, यः, तथा, उच्चैः किम्, पुनः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुर्वन्निति । विभो ! अधिगतसमयः एनं पश्य हे नाथ ! समयः परिज्ञातः प्रस्तावः येन स प्रस्तावविज्ञेयरित्यर्थः त्वं मेघं पश्य अवलोकय । अयं जीमूतः पान्थान् एषो मेघः पथिकान् हृदयान् । अङ्गनानाम् संगमाय त्वरित रमणीनां संयोगाय उत्सुको, कुर्वन् विदधत् । स्वं वयस्यं मयूरं मदयति निजं सुहृदं शुक्लापाङ्गं पक्षिविशेषं प्रमोदयति, युक्तमेततित्यर्थः । अथ एनमवलोक्य कः वाऽन्योऽपि प्रियाभिलाषानभिज्ञः वा अपरोऽपि, नीचोऽपि । काले मित्रे प्राप्ते अवसरे सख्यौ आगते सति, विमुखः पराङ्मुखः भवति । यस्तथोच्चैः मेघः तथा विधो महान् स । किं पुनः विमुखो भविष्यति ? कदापि न भविष्यतीत्यर्थः ।। १७ ।।

शब्दार्थः — विभो--प्राणनाथ, अधिगतसमयः--प्रस्तावविज्ञ, एनम्—इस मेघ को, पश्य--देखो, अयम्—यह, जीमूतः—मेघ, पान्थान्—पथिकों के, अङ्गनानाम्—वनिताओं (प्रियाओं) के, सङ्गमाय—मिलन के लिए, त्वरित—उत्सुक, हृदयान्—हृदय को, कुर्वन्—करते हुए, स्वम्—अपने, वयस्यम्—मित्र, मयूरम्—मोर को, मदयति—आनन्दित करता है, अथ—इसके बाद, कः—कौन, वा—या, अन्यः—दूसरा (नीच), अपि—भी, काले—समय में, मित्रे—मित्र के, प्राप्ते—प्राप्त होने पर, विमुखः—पराङ्मुख, भवति—होता है, यः—जो (मेघ), तथा—वैसा, उच्चैः—ऊँचा (महान्), किं पुनः—क्या वह मुँह मोड़ेगा ।

अर्थः — हे नाथ ! प्रस्तावविज्ञ तुम इस मेघ को देखो, यह मेघ पथिकों के हृदय को अपनी प्रियाओं के मिलन के लिए उत्सुक करते हुए, अपने मित्र मयूर को आनन्दित करता है । अतः ऐसे मेघ को देखकर प्रियाभिलाषी ऐसा कौन है जो मित्र के आने पर उससे मुँह मोड़ता है, तो फिर जो मेघ के समान महान् है, क्या वह मुँह मोड़ेगा ? अर्थात् कभी नहीं मोड़ेगा ।

पूर्वं येन त्वमसि वयसा भूषितोऽङ्गे समग्रे,
तैस्तैः क्रीडारससुखसखैर्भव्यभोगैरिदानीम् ।
तत्तारुण्यं सफलय पुरीं द्वारिकामेत्य शीघ्रं,
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ।। १८ ।।

अन्वयः — (हे नाथ !), येन, वयसा, त्वम्, पूर्वम्, समग्रे, अङ्गे, भूषितः, असि, द्वारिकां पुरीम्, शीघ्रम्, एत्य, तैस्तैः, क्रीडारससुखसखैः, इदानीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव्यभोगैः, तत्, तारुण्यम्, सफलय, सद्भावार्द्रैः, महत्सु, उपकारः, चिरेण न, फलति ।

पूर्वमिति । येन वयसा त्वं पूर्वं यया युवावस्थया त्वं प्राक् । समग्रे अङ्गे भूषितः समस्तशरीरे मण्डितः आसीत्, सम्प्रति तेनैव वयसा त्वं समस्तशरीरे मण्डितोऽसि इत्यर्थः । द्वारिकां पुरीं शीघ्रमेत्य अतः स्वीयद्वारिकापुरीं त्वरितमागत्य, तैस्तैः क्रीडारससुखसखैः केलिरससुखसहायैः । इदानीं भव्यभोगैः एतद्वयसा प्रधानविषयविलासैः । तत् तारुण्यं सफलय यौवनं कृतार्थय । सद्भावार्द्रैः महत्सु स्वभावेन सकरुणः, यतः कारणात् महतां विषये, उपकारोः चिरेण न फलति इति सुस्पष्टम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थः — येन वयसा—जिस अवस्था के द्वारा, त्वम्—तुम, पूर्वम्—पहले, समग्रे—समस्त, अङ्गे—शरीर में, भूषितः—मण्डित, असि—हो, द्वारिकां पुरीम्—द्वारिका नगरी को, शीघ्रम्—जल्दी, एत्य—आकर, तैस्तैः—उन-उन, क्रीडारससुखसखैः—केलिरस सुखसाधनों द्वारा, इदानीं भव्यभोगैः—इस अवस्था द्वारा प्रधान विषय-विलास से, तत् तारुण्यम्—उस युवावस्था को, सफलय—कृतार्थ करो, सद्भावार्द्रैः—स्वभाव से आर्द्र चित्त वाले, महत्सु उपकारः—महान् व्यक्ति के विषय में किया गया उपकार, चिरेण—देर से, न फलति—नहीं फलता है ।

अर्थः — (हे नाथ !) जिस अवस्था से तुम्हारा सम्पूर्ण शरीर पहले मण्डित था, उसी अवस्था से सम्प्रति तुम्हारा शरीर भूषित है। अतः हे नाथ ! यथाशीघ्र अपनी द्वारिका नगरी आकर, (पूर्वानुभूत) आमोद-प्रमोद क्रीड़ाओं द्वारा विषय-विलासों के भोग से अपनी युवावस्था को कृतार्थ करो । क्योंकि महान् व्यक्तियों के विषय में किया गया उपकार यथाशीघ्र फल देता है ।

किं शैलेऽस्मिन् भवति वसतो न व्यथा कापि चित्ते,
संत्यज्य स्वां पुरमनुपमां द्योतते नाथ ! यस्याः ।
त्वत्सौधेनासितमणिमयाग्रेण हैमोऽग्रवप्रो,
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ १९ ॥

अन्वयः — (हे) नाथ ! स्वाम्, अनुपमाम्, पुरम्, संत्यज्य, अस्मिन् शैले, वसतः किं चित्ते, कापि, व्यथा, न, भवति, यस्याः, असितमणिमयाग्रेण,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वत्सौधेन, अग्रवप्रः, हैमः, मध्ये, श्यामः शेषविस्तारपाण्डुः, भुवः, स्तनः, इव, द्योतते ।

किं शैलेऽस्मिनिति । स्वामनुपमां पुरं संत्यज्य हे नाथ ! अनन्यसदृशीं निजद्वारिकापुरीं परित्यज्य । अस्मिन् शैले वसतः पर्वते निवसतः, किम् चित्ते कापि व्यथा न भवति हृदि कापि पीडा न जायते किम् । यस्याः असितमणिमयाग्रेण द्वारिकायाः नीलमणिमयप्रधानेन, त्वत्सौधेनाग्रवप्रः हैमः त्वन्मन्दिरेणाग्रप्राकारः हैमः, हिमस्य तुषारस्यायं विकारो हैमरित्यर्थः । मध्ये श्यामः कृष्णान्तरः, शेषविस्तारपाण्डुः मध्यभागातिरिक्तपीतवर्णः । भुवः स्तन इव पृथिव्याः कुचः यथा, द्योतते शोभते, राजते वा ॥ १९ ॥

शब्दार्थः — नाथ—स्वामी, स्वाम्—अपनी, अनुपमाम्—अनन्य सुन्दर, पुरम्—नगरी को, संत्यज्य—छोड़कर, अस्मिन् शैले—इस पर्वत पर, वसतः—निवास करते हुए, किं चित्ते—क्या हृदय में, कापि—कोई भी, व्यथा—पीड़ा, न—नहीं, भवति—होता है, यस्याः—जिस (द्वारिका) की, असित-मणिमयाग्रेण—नीलमणिमयाग्रभागसे, त्वत्सौधेन—तुम्हारे मन्दिर (भवन) का, अग्रवप्रः—अग्रप्राकार, हैमः—स्वच्छ, मध्येश्यामः—बीच में काला, शेष-विस्तारपाण्डुः—और शेष भाग में पीला, भुवः—पृथिवी के, स्तन इव—स्तन की तरह, द्योतते—शोभित होता है ।

अर्थः — हे नाथ ! अपनी अनन्य सुन्दर द्वारिका नगरी को छोड़कर, इस पर्वत शिखर पर निवास करते हुए तुम्हारे हृदय में कोई भी पीड़ा नहीं होती है क्या ? आपके जिस द्वारिका नगरी की नीलमणिमय निर्मित प्रासादों का अग्रभाग स्वच्छ, बीच में काला और शेष विस्तृत भाग में पीला इस प्रकार लगता है, जैसे पृथिवी का स्तन हो ।

यामालोक्य स्वगृहगमनायोत्सुकाः स्युस्त्वदन्ये,
पश्याऽऽकाशे जलदपटलेऽस्मिन्बलाकावलीन्ताम् ।
अन्तर्विद्युतस्फुरितरुचिरे सुप्रकाशेन्द्रचापे,
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ २० ॥

अन्वयः — (हे नाथ !); अन्तर्विद्युतस्फुरितरुचिरे, सुप्रकाशेन्द्रचापे, अस्मिन्, जलदपटले, ताम्, बलाकावलीम्, पश्य, (या), आकाशे, गजस्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अङ्गे, भक्तिच्छेदैः, विरचिताम्, भूतिम्, इव, याम्, आलोक्य, त्वदन्ये, स्वगृह-गमनायोत्सुकाः, स्युः ।

यामालोक्येति । अन्तर्विद्युतस्फुरितरुचिरे सुप्रकाशेन्द्रचापे हे नाथ ! मध्ये-तडिल्लतादीप्तिप्रधाने शोभनप्रकाशः इन्द्रधनुर्यस्मिन् तत्तस्मिन् । अस्मिन् जलद-पटले तां बलाकावलीं एतस्मिन् मेघमालायां तां बकप्रियापंक्ति पश्य अवलोकय आकाशे गजस्याङ्गे या बकप्रियापंक्तिः नभसि मेघमालायां हस्तिनः शरीरे । भक्तिच्छेदैः विरचितां भूतिमिव रेखाभंगिभिः निर्मितां मातंगश्रृङ्गारं यथा, तथा शोभते इत्यर्थः । यामालोक्य यां बकप्रियापंक्ति नभसि वीक्ष्य, त्वदन्ये स्वगृहगमनायोत्सुका स्युः तवातिरिक्तः अपर. सर्वे जनाः निजमन्दिरप्राप्त्यर्थ-मुत्कण्ठिताः सन्ति, एकस्त्वमेव स्वगृहगमनायोत्सुको नासि इति भाव. ॥ २० ॥

शब्दार्थः — अन्तर्विद्युतस्फुरिरुचिरे—मध्य भाग में चमकते हुए विद्युत कान्ति से, सुप्रकाशेन्द्रचापे—शोभायमान् इन्द्रधनुष की कान्ति से युक्त, अस्मिन् जलदपटले—इस मेघ समूह में, ताम्—उसको, बलाकावलीम्—बकप्रियापंक्ति को, पश्य—देखो, आकाशे—(जो बकप्रियापंक्ति) आकाश में, गजस्य—हाथी के, अङ्गे—शरीर में, भक्तिच्छेदैः—चित्रकारी के द्वारा, विरचिताम्—बनाई गई, भूतिम्—सजावट, इव—की तरह (शोभित हो रहा है), याम्—जिस (बकप्रियापंक्ति) को, आलोक्य—देखकर, त्वदन्ये—तुम्हारे अतिरिक्त अन्य सभी, स्वगृहगमनायोत्सुकाः—अपने घर जाने के लिए उत्कण्ठित, स्युः—हैं ।

अर्थः — (हे नाथ !) मध्यभाग में चमकते हुए विद्युत-कान्ति से शोभायमान् इन्द्रधनुष की कान्ति से युक्त इस मेघ-समूह में उड़ते हुए उस बकप्रियापंक्ति को देखो, जो बकप्रियापंक्ति आकाश में, हाथी के अङ्ग में चित्रकारी के द्वारा बनाई गई सजावट की तरह (सुशोभित हो रही) है, जिस (बक-प्रिया-पंक्ति) को देखकर तुम्हारे अतिरिक्त अन्य सभी जन अपने घर जाने के लिए उत्कण्ठित हैं ।

युक्तं लक्ष्म्यामुदितमनसो यादवेशाः सभाया-
मासीनं यं निजपुरि चिरं त्वामसेवन्त पूर्वम् ।
सम्प्रत्येकः श्रयसि स नगं नाथ ! किं वेत्सि नैवं,
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ २१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — (हे) नाथ ! पूर्वम्, निजपुरि, लक्ष्म्यायुक्तम्, सभायामासीनम्, मुदितमनसः, यादवेशाः, यम् त्वाम्, चिरमसेवन्त, सम्प्रत्येकः, स, नगम्, श्रयसि, किम्, एवम्, न, वेत्सि, हि, रिक्तः, सर्वः, लघुः, भवति, पूर्णता, गौरवाय, (भवति) ।

युक्तमिति । नाथ ! पूर्वं निजपुरि प्राग्काले यास्यां द्वारिकायाम् । लक्ष्म्यायुक्तं सभायामासीनं राज्यश्रियासहितं सभायामुपविष्टम् । यादवेशाः मुदितमनसः हृष्टहृदयाः कृष्णादयः । यं त्वां चिरमसवेन्त नेमिं दीर्घकालपर्यन्तमभजन्त । सम्प्रत्येकः स अधुना एकस्त्वमेव निजपुरं परित्यज्य इत्यर्थः । नगं पर्वतं श्रयसि । किमेवं न वेत्सि ज्ञायसि, हि रिक्तः सर्वः लघुः यतः निः सारः शून्यः इत्यर्थः, सकलः न्यूनः हेयः इति भावः भवति, पूर्णता गौरवाय सारवत्ता गरिम्णे भवति ॥ २१ ॥

शब्दार्थः — नाथ—स्वामी, पूर्वम्—पहिले, निजपुरि—अपनी नगरी में, लक्ष्म्यायुक्तम्—लक्ष्मीयुक्त, सभायामासीनम्—सभा में बैठकर, मुदितमनसः—प्रसन्न चित्त वाले, यादवेशाः—यदुप्रभृति राजाओं ने, यम्—जिस, त्वाम्— नेमि की, चिरमसेवन्त—दीर्घकाल तक सेवा की, सम्प्रति—अब (आज), एकः—अकेले, सः—वह (नेमि), नगम्—पर्वत का, श्रयसि—सेवन कर रहे हो, किम्—क्या, एवम्—इस प्रकार (ऐसा), न—नहीं, वेत्सि—जानते हो, हि—क्योंकि, रिक्तः—अकेले (भीतर से), सर्वः—सभी, लघुः—हल्का, भवति—होता है, पूर्णता—गुरुता, गौरवाय—गौरव के लिए, भवति—होता है ।

अर्थः — हे नाथ ! पूर्व में अपनी नगरी में प्रसन्नचित्त यदुप्रभृति राजाओं ने लक्ष्मीयुक्त सभा में बैठकर जिस नेमिनाथ की दीर्घकाल तक सेवा की, आज वही तुम अकेले इस (अपनी द्वारिका को छोड़कर) पर्वत का सेवन कर रहे हो । (हे नाथ !) क्या तुम यह नहीं जानते हो कि प्रत्येक वस्तु जो भीतर से निःसार हो, हल्की होती है एवं भरापन गुरुता के लिए होता है ।

मुक्तातङ्कास्तव यदुविभो ! जिह्वयाङ्गं लिहन्तः,
संक्रीडन्ते शिशव इव येऽके समाधिस्थितस्य ।
सम्प्रत्यन्तःपुरमभियतो विप्रयोगेण नेत्रैः,
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — (हे) यदुविभो ! समाधिस्थितस्य, तव, अङ्के, ये, मुक्तातङ्काः, जिह्वयाङ्गम्, लिहन्तः, शिशव इव, संक्रीडन्ते, सम्प्रति, सारङ्गाः, अन्तःपुरमभियतः, विप्रयोगेण, नेत्रैः, जललवमुचः, ते, मार्गम्, सूचयिष्यन्ति।

मुक्तातङ्केति। यदुविभो ! समाधिस्थितस्य हे यदुपते ! समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं तस्मिन् स्थिता समाधिस्थितस्तस्य नेमेः इत्यर्थः। तवाङ्के ये कुरङ्गाः, मुक्तातङ्काः परित्यक्तभयाः। जिह्वयाङ्गं लिहन्तः रसनया शरीरमास्वादयन्तः, शिशव इव संक्रीडन्ते बालः यथा, तथा रमन्ते। सम्प्रति सारङ्गाः अधुना ते सारङ्गाः कुरङ्गाः, मृगारित्यर्थः। पुरमभियतः द्वारिकायाभिमुखं गच्छतः त्वामालोक्य इति भावः। विप्रयोगेण तव विप्रलम्भेन विरहेण वा, नेत्रैः जललवमुचः लोचनैः अश्रुबिन्दुवर्षकः। ते मार्गं सूचयिष्यन्ति तव पन्थानं निर्देशं करिष्यन्ति, त्वद् गमनमार्गावगमो भविष्यन्ति, इति भावः॥ २२॥

शब्दार्थ — यदुविभो—हे यदुपति, समाधिस्थितस्य—समाधिस्थित, तव—तुम्हारे, अङ्के—गोद में, ये—जो (मृगशावक), मक्तातङ्काः—भय का परित्याग कर, जिह्वयाङ्गम्—जिह्वा के द्वारा तुम्हारे अङ्गों को, लिहन्तः—चाटते हुए, शिशव इव—बच्चे की तरह, संक्रीडन्ते—खेलते हैं, सम्प्रति—अब, सारङ्गाः—वे मृगसमूह, अन्तःपुरमभियतः—तुम्हें अपनी नगरी जाते हुए (देखकर), विप्रयोगेण—तुम्हारे वियोग से, नेत्रैः—आँखों से, जललवमुचः—अश्रु छोड़ते हुए, ते—तुम्हारे, मार्गम्—मार्ग को, सूचयिष्यन्ति—सूचित करेगें।

अर्थः — हे यदुपति ! समाधिस्थित (तुमको देखकर) तुम्हारी गोद में, जो (मृगशावक) भय का परित्याग कर (अपनी) जिह्वा के द्वारा तुम्हारे अङ्गों को चाटते हुए, बच्चे की तरह खेलते हैं, सम्प्रति वे मृगसमूह तुम्हें अपनी नगरी जाते हुए (देखकर), तुम्हारे वियोग में आँखों से अश्रु की वर्षा करते हुए तुम्हारे (जाने के) मार्ग को सूचित करेंगे।

एतत्तुङ्गं त्यज शिखरिणः शृङ्गमङ्गीकुरु स्वं,
राज्यं प्राज्यं प्रणयमखिलं पालयन् बन्धुवर्गम्।
रम्ये हर्म्ये चिरमनुभव प्राप्यभोगानखण्डान्,
सोत्कण्ठानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि॥ २३॥

अन्वयः — (हे नाथ !), शिखरिणः, एतत्तुङ्गम्, शृङ्गम्, त्यज, स्वम्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राज्यम्, राज्यम्, अङ्गीकुरु, प्रणयमखिलम्, बन्धुवर्गम्, पालयन्, अखण्डान्भोगान्, प्राप्य, रम्ये, हर्म्ये, सोत्कण्ठानि, प्रियसहचरी-सम्भ्रमालिङ्गितानि, चिरमनुभव ।

एतत्तुङ्गमिति । शिखरिणः एतत्तुङ्गं शृङ्गं त्यज हे नाथ ! पर्वतस्य एतदत्युच्चं सानुं विहाय, द्वारिकां गत्वा इति भावः । स्वं प्राज्यं राज्यमङ्गीकुरु निजं प्रभूतं गजाश्वादिबहुलमिति राज्यं स्वायत्तीकुरु । प्रणयमखिलं बन्धुवर्गं स्नेहं समस्तं स्वजनसमुदायं पालयन्, अखण्डान् भोगान् प्राप्य समस्तान् विषयोपभोगवस्तुनि आसाद्य । रम्ये हर्म्ये साधुनि मन्दिरे, सोत्कण्ठानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि उत्कण्ठासहितानि स्निग्धप्रियात्वराश्लेषानि । चिरमनुभव चिरकालं द्वारिकायां तिष्ठेत्यर्थः ॥ २३ ॥

शब्दार्थः — शिखरिणः—पर्वत के, एतत्तुङ्गम्—इस अत्यन्त ऊँचे, शृङ्गम्—शिखर को, त्यज—छोड़ो, स्वम्—अपने, प्राज्यम्—गजाश्वादिबहुल, राज्यम्—राज्य को, अङ्गीकुरु—स्वीकार करो, और, प्रणयमखिलम्—प्रेमपूर्वक समस्त, बन्धुवर्गम्—बन्धुवर्ग का, पालयन्—पालन करते हुए, रम्ये हर्म्ये—अपने सुन्दर भवन में, सोत्कण्ठानि—उत्कण्ठा युक्त, प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि—अपनी प्यारी सहचरियों के वेग के साथ किये गये आलिङ्गन को, चिरमनुभव—दीर्घकालतक अनुभव (आस्वादन) करो ।

अर्थः — हे नाथ ! पर्वत के इस अत्यन्त ऊँचे शिखर का त्याग करके, अपने गजाश्वादिबहुल राज्य को स्वीकार करो तथा प्रेमपूर्वक समस्त बन्धुवर्गों का पालन करते हुए अपने सुन्दर भवन में उत्कण्ठा से युक्त अपनी प्यारी सहचरियों के वेग के साथ किये गये आलिंगन को चिरकाल तक प्राप्त करो ।

टिप्पणी — प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि-प्रियाश्च ताः सहचर्यः (कर्मधारय समास) तासां सम्भ्रमः (षष्ठी तत्पुरुष) तेन आलिंगितानि (तृतीया तत्पुरुष समास) ।

धूतानिद्राऽर्जुनपरिमलोद्गारिणः पान्थसार्थान्,
ये कुर्वीरन् जलदमरुतो वेश्मसंदर्शनोत्कान् ।
तैः संस्पृष्टो विरहिहृदयोन्माथिभिः स्वां पुरीं न,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गंतुमाशु व्यवस्येत् ॥ २४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — धूतानिद्राऽर्जुनपरिमलोद्गारिणः, विरहिहृदयोन्माथिभिः, ये जलदमरुतः, पान्थसार्थान्, वेश्मसंदर्शनोत्कान्, कुर्वीरन्, तैः, संस्पृष्टः, प्रत्युद्यातः, भवान्, स्वाम्, पुरीम्, कथमपि, आशु, गन्तुम्, न, व्यवस्येत् ।

धूतानिद्रेति । धूतानिद्राऽर्जुनपरिमलोद्गारिणः प्रकम्पिताप्रफुल्ला ये अर्जुना-अर्जुनतरवस्तेषां शौरभमुद्गिरन्तीत्येवं शीला धूतानिद्राऽर्जुनपरिमलोद्गारिणः । विरहिहृदयोन्माथिभिः वियोगि चेतांसि उन्मथ्नन्तीत्येवं शीलाविरहिहृदयो-उन्मथितः वायुभिरिति । ये जलदमरुतः मेघवायवः, पान्थसार्थान् वेश्मसंदर्श-नोत्कान् पथिकसमूहान् गृहावलोकनोत्सुकान् कुर्वीरन् कुर्वन्ति इत्यर्थः । तै संस्पृष्टः वियोगिचित्तोन्माथिभिः वायुभिः आश्लिष्टः । प्रत्युद्यातः प्रत्युद्गतः सन्, भवान् स्वां पुरीं त्वं निजद्वारिकाम् । कथमपि आशु यथा कथञ्चित् त्वरितम्, गन्तुं न व्यवस्येत् द्वारिकायां प्रयातुं न प्रयत्नं कुर्यात्, अपितु कुर्या-देवेति भावः ॥ २४ ॥

शब्दार्थः — धूतानिद्राऽर्जुनपरिमलोद्गारिणः— खिले हुए अर्जुन पुष्प विशेष की सुगन्धि को प्रगट करने वाला, विरहिहृदयोन्माथिभिः— विरहिजन के चित्त को मथने वाले वायु से, ये जलदमरुतः — जो मेघवायु, पान्थसार्थान्—पथिक समूह को, वेश्मसंदर्शनोत्कान्—घर जाने के लिए उत्सुक, कुर्वीरन्— करता है, तैः संस्पृष्टः—विरहिजन के चित्त को मथने वाले उस वायु से आश्लिष्ट, प्रत्युद्यातः—अगुवानी किया जाता हुआ, भवान्— आप (नेमि), स्वाम्—अपनी, पुरीम्—नगरी (द्वारिका को), कथमपि— किसी तरह, आशु—शीघ्र, गन्तुम्—जाने के लिए, न—नहीं, व्यवस्येत्— प्रयत्न कीजियेगा ।

अर्थः — (हे नाथ !) खिले हुए अर्जुन पुष्प की सुगन्धि को प्रकट करने वाले, विरहिजन के चित्त को मथने वाले वायु द्वारा, जो मेघ वायु पथिक समूहों को अपने घर जाने के लिए उत्सुक करता है, ऐसे विरहिजन के चित्त को मथने वाले वायु से आश्लिष्ट, अगुवानी किये जाते हुए आप अपनी द्वारिका नगरी को, किसी तरह शीघ्र जाने का प्रयत्न नहीं करेंगे ।

नोत्साहस्ते स्वपुरगमने चेद्वियुक्ता त्वयाऽहं,
वृद्धावेतौ तव च पितरौ तज्जनास्ते त्रयोऽमी ।
म्लानाब्जस्याः कलुषतनवोग्रीष्मतोयाशयाभाः,
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥ २५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — (हे नाथ !), चेत्, स्वपुरगमने, ते, उत्साहः, न, (तर्हि) अहम्, तव, एतौवृद्धौ पितरौ, च तज्जनाः, ते अमी त्रयः, त्वया, वियुक्ताः, म्लानाब्जस्याः, कलुषतनवः, ग्रीष्मतोयाशयाभाः (इव), कतिपयदिनस्थायि, हंसाः, दशार्णाः, सम्पत्स्यन्ते ।

नोत्साहस्ते इति । चेत् स्वपुरगमने ते उत्साहः न हे नाथ ! यदि निज-द्वारिकायां गन्तुं तव उत्कण्ठा न भवति, तर्हि । अहं तव एतौवृद्धौ पितरौ राजीमती भवतः इमौ स्थविरौ माता च पिता च इति पितरौ (द्वन्द्वसमासः)। च तज्जनास्ते अमीत्रयः तथा तयोः सेवकलोकाः तव इमे त्रयः । त्वयावियुक्ता नेमिना वियोगिनः सन्तः । म्लानाब्जस्याः कलुषतनवः संकोचमासादितानि पंकजानिव मुखानि इत्यर्थः, त्वद्वियोगेन स्नानाद्यकरणात् मलिना शरीराणि । ग्रीष्मतोयाशयाभाः निदाघजलाशजयकान्ति इव । कतिपयदिनस्थायि हंसाः किञ्चिद्दिवसस्थायि आत्मनः, संपत्स्यन्ते भविष्यन्ति । दशार्णाः दश ऋणानि (दुर्गभूमयः) येषां ते, त्वद्विरहे दशापि प्राणान् त्यक्ष्यन्तीत्यर्थः । पक्षान्तरे—ग्रीष्मजलाशयापि जलशोषाद् अपृथुला भवन्ति, राजहंसाश्च कतिपयदिवसं यावत् स्थास्यन्ति ॥ २५ ॥

शब्दार्थः — चेत्—यदि, स्वपुरगमने—अपनी नगरी द्वारिका गमन में, ते—तुम्हारा (नेमि का), उत्साहः—उत्कण्ठा, न—नहीं, तो, अहम्—मैं (राजीमती), तव—तुम्हारे, एतौ वृद्धौ पितरौ—दोनों वृद्ध माता पिता, च—तथा, तज्जनाः—सेवकजन, ते अमीत्रयः—ये तीनों, त्वया वियुक्ता—तुमसे अलग (तुम्हारे वियोग में), म्लानाब्जस्याः—मलिन हुए कमल के समान मलिन मुख, कलुषतनवः—स्नानादि के अभाव में गन्दे शरीर वाले, ग्रीष्मतोयाशयाभाः—ग्रीष्मकालीन जलाशय की शोभा की तरह, कतिपयदिनस्थायि-हंसाः—जहाँ हंस (प्राण) कुछ दिनों तक रह सकते हैं ऐसे, संपत्स्यन्ते—हो जायेंगे ।

अर्थः — (हे नाथ !) यदि अपनी द्वारिका नगरी गमन में तुम्हारा उत्साह नहीं है तो, मैं (राजीमती), तुम्हारे वृद्ध माता-पिता तथा तुम्हारे सेवकजन, ये तीनों तुम्हारे वियोग में मुरझाये कमल के समान मलिन मुख तथा स्नानादि के अभाव में कलुषित शरीर वाले हो जायेंगे, ऐसे में ग्रीष्म-कालीन दशार्ण देश की जलाशय की कान्ति के सदृश जहाँ राजहंस कुछ दिन तक ही रह सकते हैं तद्वत् हम लोगों के शरीर में भी प्राण कुछ दिन तक ही रह सकता है, अर्थात् हम सभी अपने प्राणों का त्याग कर देंगे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणी — दशार्णाः—उक्त शब्द कई अर्थों का वाचक है जैसे—दश ऋणानि (दुर्गभूयः) येषां ते (बहुव्रीहि समास)। यहाँ 'प्रवत्सर-कम्बलवसन-दशानामृणे' सूत्र से 'आ' वृद्धि होकर 'उरण् रपरः' सूत्र से रपर हो गया है। उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार 'दशार्णाः' शब्द पुरुषवाची है, जिनके दश दुर्ग हों उन राजाओं को 'दशार्णाः' कहा जाता है। 'तेषां निवासः' ऐसा विग्रह करके 'तस्य निवासः' से अण् प्रत्यय होता है। उसका 'जनपदेलुप्' से लोप तो हो जाता पर 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' सूत्र से लिङ्ग और वचन के प्रकृति भाव हो जाने से 'दशार्णा' यह बहुवचनान्त रूप निष्पन्न होता है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार ऋण शब्द का अर्थ जल भी होता है, तब दश ऋणानि (जलस्रोतसः) यास्यां सा 'दशार्णा' इसका अर्थ नदी है।

तन्नः प्राणानव तव मतो जीवरक्षैव धर्मो,
वासार्थं वः सुरविरचितां तां पुरीमेहि यस्याः।
वप्रप्रान्ते स्फुरति जलधेर्हारिवेलारमण्याः,
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ २६ ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) तव, मतः, जीवरक्षैव, धर्मः, (तर्हि), नः, प्राणान्, अव, वः, तत्, सुरविरचिताम्, ताम्, पुरीम्, वासार्थम्, एहि यस्याः, वेत्रवत्याः, वप्रप्रान्ते, जलधेः, हारि, चलोर्मि, पयः वेला, रमण्याः, सभ्रू-भंगम्, मुखमिव, स्फुरति।

तन्नः प्राणानवेति। तव मतो, जीवरक्षैव धर्मः हे नाथ ! सकलजन्तु-रक्षणमेव धर्मः त्वामभिष्टः। नः प्राणानव तर्हि अस्माकं प्राणानपि रक्ष। वः तत् सुरविरचितां तथा युस्माकं यदुप्रभृतीनां नगरं यत् शक्रादेशाद् विश्वकर्मा-निर्मिताम्। तां पुरीं वासार्थमेहि द्वारिकां नगरीं निवासार्थमागच्छ। यस्याः द्वारिकायाः वेत्रवत्याः वप्रप्रान्ते वेत्रलतायां वप्रप्रान्ते प्राकारपर्यन्ते। जलधेर्हारि चलोर्मि पयः वेला समुद्रस्यमनोहारितरङ्गसहितं जलम्, वेला अम्भसो वृद्धिः सैवरमणी स्त्री इत्यर्थः। रमण्याः सभ्रूभंगं मुखमिव स्फुरति कामिन्याः सकटाक्षमाननमिव, अधरमिवेतिभावः, शोभते राजते वा ॥ २६ ॥

शब्दार्थः — तव मतः—तुम्हारे अनुसार, जीवरक्षैव—जीवों की रक्षा करना ही, धर्मः—धर्म है, तो, नः—हम लोगों के, प्राणान्—प्राणों की, अव—रक्षा करो, तथा, वः—तुम यदुप्रभृतियों की, तत्—वह नगर, सुरविर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिताम् --जो देवों द्वारा निर्मित है, तां पुरीम्—उस नगरी को, वासार्थम्—रहने के लिए, एहि—आओ, यस्याः—जिस द्वारिका की, वेत्रवल्याः—वेंत की लता की, वप्रप्रान्ते—प्राकार पर्यन्त, जलधेर्हारि चलोर्मिपयः वेला—समुद्र की तरंग युक्त मनोहर जल-धारा, रमण्याः—रमणियों की, सभ्रू-भंगम्—कटाक्षयुक्त, मुखमिव—मुख की तरह, स्फुरित—शोभित होता है।

अर्थः — (हे नाथ !) यदि तुम्हारे अनुसार जीवों की रक्षा करना ही धर्म है तो हम लोगों के प्राणों की भी रक्षा करो, तथा तुम यदुप्रभृतियों की वह नगरी जिसे देवों ने बनाया है उस (द्वारिका नगरी) को निवास के लिए चलो, जिस द्वारिका के वेंत लता की प्राकार पर्यन्त समुद्र की तरंगयुक्त मनोहर जलधारा रमणी के कटाक्षयुक्त मुख की तरह सुशोभित है।

अस्मादद्रेः प्रतिपथमधः संचरन् दानवारेः,
क्रीडाशैलं विमलमणिभिर्भासुरं द्रक्ष्यसि त्वम् ।
अन्तः कान्तारतरसगलद्भूषणैर्यो यदूना-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २७ ॥

अन्वयः — त्वम्, अस्मादद्रेः, अधः, प्रतिपथम्, संचरन्, दानवारेः, विमलमणिभिर्भासुरम्, क्रीडाशैलम्, द्रक्ष्यसि, यः, अन्तःकान्तारतरसगलद्भूषणैः, शिलावेश्मभिः, यदूनाम्, उद्दामानि, यौवनानि, प्रथयति ।

अस्मादद्रेः इति । त्वमस्मादद्रेः नाथ त्वं रैवतकाद्गिरेः । अधः प्रतिपथं सञ्चरन् नीचैः प्रतिमार्गं गच्छन् । दानवारेः विमलमणिभिर्भासुरं हरेः निर्मल-रत्नैर्देदीप्यमानम् । क्रीडाशैलं द्रक्ष्यसि केलिगिरिं पश्यसि । यः अन्तःकान्ता-रतरसगलद्भूषणैः यो केलिगिरिः पाषाणगृहाणां मध्ये प्रियासम्भोगलीलापत-द्केयुरकुण्डलैः । शिलावेश्मभिः पाषाणगृहैः, सदनैः कन्दराभिरित्यर्थः । यदु-नामुद्दामानि यादवानां निर्बन्धानि, उत्कटानीति भावः । यौवनानि प्रथयति तारुण्यानि विस्तारयति कथयति वा ॥ २६ ॥

शब्दार्थः — त्वम्--तुम (नेमि), अस्मादद्रेः—इस पर्वत से, अधः—नीचे, प्रतिपथम्--प्रत्येक मार्ग को, संचरन्--जाते हुए, दानवारेः--भगवान् कृष्ण के, विमलमणिभिर्भासुरम्—निर्मल मणियों से देदीप्यमान्, क्रीडाशैलम्---केलिगिरि को, द्रक्ष्यसि---देखोगे, यः—जो केलिगिरि, अन्तःकान्तारतरसगलद्-भूषणै--शिलागृहों के मध्य प्रिया के सम्भोग क्रीड़ा में गिरे हुए आभूषणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से, शिलावेश्मभिः—कन्दराओं (के माध्यम) से, यदुनाम्—यदुवंशियों के, उद्दामानि—निर्बन्ध (उत्कट), यौवनानि—यौवन (जवानी) को, प्रथयति—कहता है।

अर्थः — (हे नाथ !) तुम इस पर्वत से नीचे प्रत्येक मार्ग पर जाते हुए भगवान् कृष्ण के निर्मल मणियों से देदीप्यमान्, केलिगिरि को देखोगे, जो केलिगिरि प्रियाओं के रति-क्रीड़ा में गिरे हुए आभूषणों द्वारा कन्दराओं (के माध्यम से) यदुवंशियों के उत्कट यौवन को कहता है।

तस्योद्याने वरतरुचिते त्वं मुहूर्तं श्रमार्त-
स्तिष्ठेस्तुष्टो विविधतदुपानीतपुष्पोपहारैः।
मुष्णन्नन्तश्चिरपरिमलोद्गारसारं स्मितानां,
छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥ २८॥

अन्वयः — (हे नाथ !), श्रमार्तः, त्वम्, तस्य, वरतरुचिते, उद्याने, तदुपानीतविविधपुष्पोपहारैः, तुष्टः, अन्तश्चिरपरिमलोद्गारसारम्, मुष्णन्, स्मितानाम्, पुष्पलावीमुखानाम्, छायादानात्, क्षणपरिचितः (सन्), मुहूर्तम्, तिष्ठेः।

तस्योद्यानेति। श्रमार्तः त्वं हे नाथ ! अध्वसंपात् खेदात् पीडितः त्वम् (नेमिः)। तस्य वरतरुचिते उद्याने केलिगिरेः श्रेष्ठवृक्षसंचिते, संचितं, व्याप्तं वा आरामे। विविधतदुपानीतपुष्पोपहारैः अनेकप्रकारास्पुष्पावचायिकाभिः उपढौकिता कुसमोपहारैः, तुष्टः हृष्टः। अन्तश्चिरपरिमलोद्गारसारं वनस्यमध्ये चिरसौरभाविष्कारं कुर्वन् तत्त्वम्, मुष्णन् हरन् सुरभिगन्धघ्राणं कुर्वन्नित्यर्थः। स्मितानां पुष्पलावीमुखानां हसितानां पुष्पावचायिकावदनानाम्। छायादानात् अनातपीकरणात् शोभावितरणाद् इति भावः। क्षणपरिचितः किञ्चित्कालेन ज्ञातः सन्, मुहूर्तं तिष्ठेः क्षणं यावद् श्रमापनोदं कुर्याः इत्यर्थः॥ २८॥

शब्दार्थः — श्रमार्तः—मार्ग में चलने से पीड़ित, त्वम्—तुम (नेमि), तस्यवरतरुचिते उद्याने—केलिगिरि के श्रेष्ठ वृक्षों से युक्त उद्यान में, विविधतदुपानीतपुष्पोपहारैः—फूल तोड़ने वाली महिलाओं द्वारा उपहार स्वरूप लाये गये अनेक प्रकार की पुष्पों से, तुष्टः—प्रसन्न होकर, अन्तश्चिरपरिमलोद्गारसारम्—वन के मध्य पुष्पों से निकलने वाली सुगन्धि को, मुष्णन्—ग्रहण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए, स्मितानां पुष्पलावीमुखानाम्—प्रसन्नचित्त फूल तोड़ने वाली महिलाओं के मुखों का, छायादानात्—शोभा वितरण करने के कारण, क्षणपरिचितः—कुछ समय के लिए परिचित होकर, मुहूर्तं तिष्ठेः—क्षण भर रुक जाना।

अर्थः — (हे नाथ !) मार्गजनित श्रम से पीड़ित तुम उस केलिगिरि के श्रेष्ठ वृक्षों से युक्त उद्यान में, फूलों को तोड़ने वाली महिलाओं द्वारा उपहार स्वरूप लाए गए अनेक प्रकार के पुष्पों की सुगन्धि को ग्रहण करते हुए प्रसन्न होकर, प्रसन्नचित्त फूल तोड़ने वाली महिलाओं के मुखों को, छाया प्रदान करने के कारण (शोभा वितरण करने के कारण) कुछ समय के लिए परिचित होकर, क्षण भर वहाँ (केलिगिरि के उद्यान में) रुक जाना।

टिप्पणी — पुष्पलावी—पुष्प उपपदपूर्वक छेदनार्थक 'लू' धातु कर्म में 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय तथा वृद्धि करके स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्र से 'ङीप्' करके पुष्पलावी शब्द बनता है और 'कुगतिप्रादयः' से पुष्प और लावी का समास हुआ है।

दृष्ट्वा रूपं तव निरुपमं तत्र पीनस्तनीनां,
तासामन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानाम् ।
कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत् सम्भ्रमोद्यद्विलासै-
र्लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ २९ ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) तत्र, तव, निरुपमं रूपम्, दृष्ट्वा, तासाम्, पीनस्तनीनाम्, अन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानाम्, कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत्, सम्भ्रमोद्यत्, लोलापाङ्गैः, विलासैः, लोचनैः; यदि, न, रमसे, (तर्हि), वञ्चितः, असि।

दृष्ट्वा रूपमिति। तव निरुपमं रूपं दृष्ट्वा हे नाथ ! तस्मिन् क्रीडापर्वते पुष्पावचायिकाः भवतः नेमेः अनुपमेयं रूपमवलोक्य। तासां पीनस्तनीनामन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानां पुष्पावचायिकानां पीवरपयोधराणां चित्ते कामरसोल्लासलीलामन्थरानाम्। कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत् श्रोत्रपद्मप्राप्तभ्रमरकृत्, संभ्रमोद्यत् भयमुदयं प्राप्नुवन्तो वा। लोलापाङ्गैः चञ्चल-कटाक्षैः विलासैः रतिभावद्योतको वनितानां विलासै इत्यर्थः। लोचनैः यदि न रमसे नेत्रैः चेत् त्वं न क्रीडसि तर्हि, वञ्चितोऽसि प्रतारितोऽसि इत्यर्थः॥ २९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थः — तत्र—वहाँ, तव—तुम्हारा (नेमि का), निरुपमं रूपम्—अनुपमेय रूप को, दृष्ट्वा—देखकर, तासां पीनस्तनीनाम्—फूल तोड़ती हुई स्थूल स्तनों वाली वनिताओं के, अन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानाम्—हृदय में काम के उद्दीप्त हो जाने से अलसाई हुई, कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत्—कानों में (पहने गये) कमल पर मँडराते हुए भ्रमरों से, संभ्रमोद्यत्—भयभीत, लोलापाङ्गैः—चञ्चल कटाक्षों से, विलासैः—रतिभाव द्योतक हाव-भाव, लोचनैः—आँखों से, यदि न रमसे—यदि रमण (विहार) नहीं किया तो अपने को, वञ्चितोऽसि—प्रतारित समझो (जीवन-लाभ से ठगा गया समझो)।

अर्थः — हे नाथ ! वहाँ (उस केलिगिरि के उद्यान में) तुम्हारे अनुपमेय रूप को देखकर फूल तोड़ती हुई स्थूल स्तनों वाली स्त्रियों के हृदय में काम के उद्दीप्त हो जाने से अलसाई हुई तथा उनके द्वारा कानों में पहने गये कमल पर मँडराते हुए भ्रमरों से भयभीत, चञ्चल कटाक्षों वाली, रतिभाव-द्योतक (स्त्रियों की) आँखों से यदि तुम (नेमि) ने विहार नहीं किया तो अपने को (जीवन-लाभ से) प्रतारित ही समझो।

तस्मिन्नुद्यन्मनसिजरसाः प्रांशुशाखावनाम-
व्याजादाविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्चीकलापाः ।
संधास्यन्ते त्वयि मृगदृशस्ता विचित्रान् विलासान्,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ ३० ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) तस्मिन्, उद्यन्, मनसिजरसाः, प्रांशुशाखावनामव्याजाद्, आविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्चीकलापाः, मृगदृशः, ताः, विचित्रान् विलासान्, त्वयि, संधास्यन्ते, हि, स्त्रीणाम्, प्रियेषु, विभ्रमः, आद्यम्, प्रणयवचनम्।

तस्मिन्निति। तस्मिन्नुद्यन्मनसिजरसाः हे नाथ ! केलिपर्वते प्रकटीभवन्कामरागयुक्ताः ता पुष्पावचायिकाः कामिन्यः। प्रांशुशाखावनामव्याजाद् पुष्पशाखानीचैर्नामनमिषात्। आविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्चीकलापाः प्रकाशितः स्तनवलीनाभिकटिबन्धकलापाः। मृगदृशस्ता मृगाक्षिपुष्पावचायिकाः कामिन्यः। विचित्रान् विलासान् विविधान् नेत्रावलोकनविशेषान्। त्वयि संधास्यन्ते भवति संयोक्ष्यन्ते। हि स्त्रीणां प्रियेषु यतः कामिनीनां कान्तेषु विषये इति भावः। विभ्रमः आद्यं प्रणयवचनं विलास एव प्रथमं प्रेमवाक्यं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवति। कामिन्यः रति प्रसंगे स्वकीयामिच्छां हाव-भाव-प्रदर्शनेनैव प्रकटयन्ति, न तु शब्दतः कथयन्ति लज्जाधिक्यात् ।। ३० ।।

शब्दार्थः — तस्मिन्—उस केलि गिरि पर, उद्यन्—प्रकट हुए, मनसिज-रसाः—कामानुराग (के कारण), प्रांशुशाखावनामव्याजाद्—फूलों की ऊँची शाखाओं को नीचे झुकाने के बहाने से, आविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्ची-कलापाः —स्तन, त्रिवली (पेट के ऊपरी भाग में, अर्थात् वक्षस्थल और नाभि के मध्य चमड़ी पर पड़ी शिकन रेखा, जो विशेषकर स्त्रियों के सौन्दर्य का एक चिह्न समझी जाती है) नाभि और कटिबन्ध-कलापों से, मृगदृशः—मृग के समान नेत्रों वाली, ताः—पुष्पों को तोड़ने वाली वे स्त्रियाँ, विचित्रान्—विविध प्रकार की, विलासान्—रतिविषयक भाव-भङ्गिमाओं द्वारा, त्वयि—तुममें (नेमि में), संधास्यन्ते—रमण की अभिलाषा करेंगी, हि—क्योंकि, स्त्रीणाम्—कामिनियों की, प्रियेषु—प्रिय के प्रति, विभ्रमः—हाव-भाव-विलास प्रदर्शन ही, आद्यम्—पहली, प्रणयवचनम्—प्रेम-प्रार्थना होती है।

अर्थः — (हे नाथ !) उस केलिगिरि (के उद्यान) में (तुम्हें देखकर) प्रकट हुए कामानुराग के कारण (फूलों को तोड़ने वाली स्त्रियाँ) फूलों की ऊँची शाखाओं को नीचे झुकाने के बहाने से, अपने स्तन, त्रिवली, नाभिप्रदेश तथा कटिबन्ध-कलापों द्वारा वे मृगनयनी स्त्रियाँ विविध प्रकार की रतिविषयक भाव-भङ्गिमाओं द्वारा तुमसे रमण की अभिलाषा करेंगी, क्योंकि कामिनियों की प्रिय के प्रति, हाव-भाव-विलास प्रदर्शन ही पहली प्रेम-प्रार्थना होती है।

त्वां याचेऽहं न पथि भवता क्वापि कार्यो विलम्बो,
गन्तव्यातः सपदि नगरी स्वायतः सा त्वदम्बा।
मुक्ताहारा सजलनयना त्वद्वियोगार्तिदीना,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना सः त्वयैवोपपाद्यः ।। ३१ ।।

अन्वयः — (हे नाथ !) अहम्, त्वाम्, याचे, (यत्) स्वा नगरी, सपदि, गन्तव्या, भवता, पथि, क्वापि, विलम्बः, न, कार्यः, (यतः) त्वद्वियोगार्तिदीना, सजलनयना, सा त्वदम्बा, मुक्ताहारा, अतः, येन, विधिना, कार्श्यम्, त्यजति, सः, त्वया, एव, उपपाद्यः ।

त्वामिति। अहं त्वां याचे अहं (राजीमती) भवन्तं नेमिम् इत्यर्थः प्रार्थये। स्वा नगरी सपदि यत् स्वकीया द्वारिका द्वारवती वा आशु, गन्तव्या यातव्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवता पथि त्वया नेमिना मार्गे। क्वापि विलम्बः विलासार्हे पर्वतादौ कालक्षेपः न कार्यः। त्वद्वियोगार्तिदीना नेमेः विरहपीडादीना। सजलनयना सा त्वदम्बा मुक्ताहारा अश्रुलोचना भवतः नेमिरित्यर्थः माता परित्यक्ताहारा इति। अतः येन विधिना अतः तादृशेन प्रकारेण, कार्श्यं त्यजति सा कृशतां जहाति। स त्वयैवोपपाद्यः तादृशः व्यापारः भवतैव सम्पादनीयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः — अहम्—मैं (राजीमती), त्वाम्—तुमसे, याचे—प्रार्थना करती हूँ (कि), स्वा नगरी – अपनी द्वारिका नगरी, सपदि—शीघ्र, गन्तव्या—जाना है, भवता—आप, पथि—मार्ग में, क्वापि—किसी भी प्रकार का, विलम्बः—देर, न—नहीं, कार्यः—करें, त्वद्वियोगार्तिदीना—तुम्हारे वियोग में पीड़ित दीन, सजलनयना—अश्रुपूर्ण नेत्रों वाली, सा त्वदम्बा—वह तुम्हारी माता, मुक्ताहारा—भोजनादि का परित्याग (कर दी है), अतः—इसलिये, येन—जिस, विधिना—प्रकार से, कार्श्यम्—दुर्बलता को, त्यजति—छोड़े, सः—वह उपाय, त्वया एव—तुम्हें ही, उपपाद्यः—करना चाहिए।

अर्थः — (हे नाथ !) मैं (राजीमती) तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि (तुमको) अपनी द्वारिका नगरी शीघ्र जाना है तथा आप मार्ग में विलासादि क्रियाओं द्वारा किसी प्रकार का विलम्ब नहीं करें (क्योंकि) तुम्हारे वियोग में पीड़ित अश्रुपूर्ण नेत्रों वाली तुम्हारी माता भोजनादि का परित्याग कर अत्यन्त दुर्बल हो गई हैं। अतः जिस उपाय से उसकी दुर्बलता दूर हो, ऐसा उपाय तुम्हें ही करना चाहिए।

तस्याधस्ताद्विषमपुलिनां स्वर्णरेखामतीतो,
मार्गे द्रष्टा पुरमनुपमां तां भवान् वामनस्य।
भुक्त्वा भोगोपचयमवनिं नाकिनामागतानां,
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः — तस्याधस्ताद्, मार्गे, भवान्, विषमपुलिनाम् स्वर्णरेखाम्, अतीतः, वामनस्य, ताम्, अनुपमां पुरम्, द्रष्टा, (या), भोगोपचयम्, भुक्त्वा, अवनिम्, आगतानाम्, नाकिनाम्, शेषैः, पुण्यैः, हृतम्, कान्तिमत्, एकम्, दिवः, खण्डम्, इव।

तस्येति। तस्याधस्ताद् केलिगिरेरधस्ताद् गच्छन् इति भावः। मार्गे भवान् पथि त्वं (नेमिः)। विषमपुलिनां स्वर्णरेखामतीतः निम्नोन्नतं तटं यस्याः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा ताम्, स्वर्णरेखां-हैमपंक्ति प्राप्तः । वामनस्य तामनुपमां पुरं हरेः वामनावतारस्य विष्णोरित्यर्थः, गरिष्ठां नगरम्, द्रष्टा उज्जयिनीं द्रक्ष्यसि । भोगोपचयं भुक्त्वा या नगरी उज्जयिनी भोगप्रौढ़िमाणं, समस्तान् भोगान् वस्तुनि उपभुज्य इत्यर्थः । अवनिमागतानां पृथ्वीं प्राप्तानाम्, नाकिनां देवलोकनिवासिनाम् । शेषैः पुण्यैर्हृतम् अवशिष्टैः धर्मैः, सुकृतैरिति भावः, अवतारितम् । कान्तिमत् एकं दिवः खण्डमिव उज्ज्वलम् अन्यतमं स्वर्गलोकस्य शकलमिव प्रतीयते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः — तस्याधस्तात्—उस केलिपर्वत के नीचे से (जाते हुए), मार्गे—मार्ग में, भवान्—तुम (नेमि), विषमपुलिनाम्—निम्नोन्नत तटवाली, स्वर्णरेखामतीतः—स्वर्ण रेखा की कान्ति को प्राप्त हुई, वामनस्य—वामनावतार भगवान् विष्णु के, तां अनुपमां पुरम्—उस अनुपम नगर को, द्रष्टा—देखोगे, जो, भोगोपचयम्—सभी प्रकार के भोगों को, भुक्त्वा—भोग करके, अवनिम्—पृथ्वी पर, आगतानाम्—आए हुए, नाकिनाम्—स्वर्गलोक मे रहने वालों के, शेषैः पुण्यैः—अवशिष्ट पुण्यों के द्वारा, हृतम्—लाया गया, कान्तिमत्— उज्ज्वल, एकम्—एक, दिवः —स्वर्ग के, खण्डमिव—टुकड़े की तरह (है) ।

अर्थः — (हे नाथ !); उस क्रीड़ाशैल के नीचे से जाते हुए मार्ग में तुम निम्नोन्नत तट वाले स्वर्ण-पंक्ति को प्राप्त हुए भगवान् वामन की उस सुन्दर नगरी को देखोगे जो नगरी (उज्जयिनी) सभी प्रकार के भोगों का भोग करके पृथ्वी पर आये हुए स्वर्गवासियों के बचे हुए पुण्यफलों के द्वारा लाए गए स्वर्ग के एक उज्ज्वल टुकड़े की तरह अर्थात्, सम्पत्ति से परिपूर्ण है ।

[1]यस्यां सान्द्रानुपवनलतावेश्मसु स्वेदबिन्दून्,
मुष्णन्संगात्सुरतजनितानुज्जयन्तीं विगाह्य ।
कुर्वन्तीरे विगलितपटाः सेवते वारनारीं,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ ३३ ॥

---

१. यस्यां सान्द्रोनुपमचलितो वेश्मसु स्वेच्छयैवं,
उष्णन्नंगात्सुरतललितादुज्जयन्तीं विगाह्य ।
स्वेदे तीरे विदलितपुटः सेवते वारिनारीं,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः ॥ इति पाठान्तरमुपलभ्यते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — उज्जयन्तीम्, विगाह्य, यस्यां तीरे, उपवनलतावेश्मसु, अंगात्, सुरतजनितान्, सान्द्रान्, स्वेदबिन्दून्, मुष्णन्, शिप्रावातः, प्रार्थनाचाटुकारः, प्रियतम इव, वारनारीम्, विगलितपटाः, कुर्वन्, सेवते ।

यस्यामिति । उज्जयन्तीं विगाह्य अवन्तीमासाद्य प्राप्येत्यर्थः । यस्यां तीरे उपवनलतावेश्मसु त्वं द्रक्ष्यसि यत् शिप्रायां नद्यां तटे उपवनवल्लीगृहेषु । अंगात्सुरतजनितान् सान्द्रान् शरीरात् स्निग्धान् स्वेदजलकणान्, मुष्णन् हरन् अपनयन् वा इत्यर्थः । शिप्रावातः शिप्रानदीपवनः । प्रार्थनाचाटुकारः प्रियतम इव रतिरचनाय मधुरभाषी [प्रार्थनायां चाटुकारः प्रार्थनाचाटुकारः सप्तमी तत्पुरुष] वल्लभः यथा । वारनारीं विगलितपटाः कुर्वन् वाराङ्गनामपनीतवसना विदधत्, सेवते शिप्रानदीपवनः रतिक्रीडायां पुनः प्रवृत्त्यर्थं मधुरभाषणशीलः वल्लभ इव वाराङ्गनानां सम्भोगजन्यपरिश्रमं दूरीकरोतीति भावः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः — उज्जयन्तीम्—उज्जयिनी (अवन्ती) को, विगाह्य—प्राप्त करके, यस्यां तीरे—शिप्रा नदी के तट पर, उपवनलतावेश्मसु—वनलता निर्मित गृहों में, अंगात् सुरतजनितान्—शरीर से सम्भोगजन्य, सान्द्रान् स्वेदबिन्दून्—गाढ़ स्वेद बिन्दुओं को, मुष्णन्—दूर करता हुआ, शिप्रावातः—शिप्रानदी की वायु, प्रार्थनाचाटुकारः—रति-क्रिया में (पुनः प्रवृत्यर्थं) मधुर-मधुर बोलने वाले, प्रियतम इव—प्रेमी के समान, वारनारीम्—वाराङ्गना (वेश्या) को, विगलितपटाः कुर्वन्—वस्त्ररहित करते हुए, सेवते—सेवा करता (रतिजन्य परिश्रम को दूर करता) है ।

अर्थः — (हे नाथ !) अवन्ती नगरी को प्राप्त करके (तुम देखोगे कि) शिप्रानदी के तट पर वनलतानिर्मित गृहों में सम्भोगजन्य गाढ़ स्वेद जलकणों को सुखाता हुआ शिप्रानदी की वायु, रति-क्रीडा में (पुनः प्रवृत्ति के लिए) मधुर-मधुर बोलने वाले प्रेमी के समान वाराङ्गनाओं को वस्त्ररहित करते हुए, सम्भोग के परिश्रम को दूर करता है ।

यत्र स्तम्भान्मरकतमयान्देहलीं विद्रुमाणां,
प्रासादाग्रं विविधमणिभिर्निर्मितं वामनस्य[1] ।

---

१. 'वामनस्य' स्थाने 'वासवेन' इति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिं मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकां[1] चापि दृष्ट्वा,
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ।। ३४ ।।

अन्वयः — यत्र, मरकतमयान्, स्तम्भान्, विद्रुमाणाम्, देहलीम्, विविधमणिभिः, निर्मितम्, वामनस्य, प्रासादाग्रम्, मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकाम्, भूमिम्, च, दृष्ट्वा, सलिलनिधयः, अपि, तोयमात्रावशेषाः, संलक्ष्यन्ते ।

यत्र स्तम्भानिति । यत्र मरकतमयान्स्तम्भान् हे नाथ ! यस्यां अवन्त्यां हरिन्मणिप्रधानान्स्तम्भान् । विद्रुमाणां प्रवालानां देहलीञ्च । विविधमणिभिर्निर्मितं वामनस्य तथा नानारत्नैर्रचितं वामनावतारस्य विष्णोः हरेरित्यर्थः । मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकां मौक्तिकनिकररचितस्वस्तिकाम् [卐] इति चिह्नविशेषयुक्तम् । भूमिं च दृष्टवा सलिलनिधयः पृथ्वीं तथा अवलोक्य रत्नाकरः समुद्र इत्यर्थः । अपि तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते अपि केवल-जलावशिष्टाः [तोयमेव तोयमात्रम् (रूपक-समासः) तोयमात्रमवशेषो येषान्ते तोयमात्रावशेषाः (बहुब्रीहि समासः)] अनुमीयन्ते । प्रासादे तादृशान् रत्नसमूहान् युक्तान् पृथ्वीं दृष्ट्वा जनाः । समुद्रः रत्नहीनो जलमात्रावशिष्ट इत्यनुमीयन्ते ।। ३४ ।।

शब्दार्थः — यत्र - जिस (अवन्ती) में, मरकतमयान्—मरकतमणिमय, स्तम्भान्—स्तम्भों (खम्भों) को, विद्रुमाणां देहलीम्—प्रवाल (मूँगा) की ड्यौढ़ी को, विविधमणिभिः—(तथा) अनेक प्रकार की मणियों से, निर्मितम्—निर्मित (रचित), वामनस्य—वामनावतार भगवान् विष्णु के, प्रासादाग्रम्—मन्दिर के अग्रभाग पर, मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकाम्—मौक्तिकमणिनिर्मित (मांगलिक) स्वस्तिक चिह्न युक्त, भूमिम्—पृथ्वी को, च—तथा, दृष्ट्वा—देखकर, सलिलनिधयः—समुद्र, तोयमात्रावशेषाः—केवल जल वाला, संलक्ष्यन्ते—दिखाई देते हैं ।

अर्थः — (हे नाथ !) जिस अवन्ती नगरी में, मरकतमणिमय स्तम्भों (खम्भों) को, प्रवाल (मूँगा) की ड्यौढ़ी को तथा अनेक प्रकार की मणियों से निर्मित वामनावतार भगवान् विष्णु के मन्दिर के ऊपर मौक्तिक-मणिनिर्मित (मांगलिक) स्वस्तिक (卐) युक्त पृथ्वी को देखकर (लोग) समुद्र को केवल जल वाला (रत्नविहीन) ही समझेंगे ।

---

१. 'मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकां' स्थाने 'मुक्ताप्रकररचितहस्तिकाम्' इति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणी -- संलक्ष्यते--सम् + णिजन्त 'लक्ष्' धातु, प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप है। धातु आत्मनेपदी है, कर्म में णिच् का विधान किया गया है।

अत्रात्युग्रैः किल मुनिवरो वामनः प्राक्तपोभि-
र्लब्ध्वा सिद्धिं सकलभुवनव्यापिना विग्रहेण।
ईशं वासं भुजगसदने प्रापयद्दानवाना-
मित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥ ३५॥

अन्वयः — अत्र, किल, प्राक्, मुनिवरः, वामनः, अत्युग्रैः, तपोभिः, सिद्धिम्, लब्ध्वा, सकलभुवनव्यापिना, विग्रहेण, दानवानाम्, ईशम्, भुजग-सदने, वासम्, प्रापयत् इति अभिज्ञः, जनः, आगन्तून्, बन्धून्, यत्र, रमयति, किल।

अत्रात्युग्रै इति। अत्र प्राक् अस्याम् अवन्त्यां पूर्वम्। मुनिवरो वामनः मुनिश्रेष्ठो वामनः वामनावतारस्य विष्णो इति भावः। अत्युग्रैः तपोभिः सिद्धिं लब्ध्वा प्राप्येति सुस्पष्टम्। सकलभुवनव्यापिना विग्रहेण समस्तत्रिलोकी-प्रसरणशीलेन शरीरेण। दानवानाम् ईशं दैत्यानां स्वामिनं बलिम् इत्यर्थः। भुजगसदने वासं प्रापयत् सर्पगृहे पाताले इति भावः, निवासमनयत्। इति अभिज्ञः अनेन प्रकारेण पूर्वोक्तकथाकोविदः। जनः आगन्तून् नरः प्राघुणिकान्, अन्यस्मात् देशादागतान्। बन्धून् यत्र रमयति बान्धवान् उज्जयन्त्यां विनोदयति। किलेति निश्चितम्। श्लोकेऽस्मिन् भाविकालंकारः॥ ३५॥

शब्दार्थ: — अत्र—इस अवन्ती में, किल प्राक्—पहले (पूर्वकाल में), मुनिवरः—मुनिश्रेष्ठ, वामनः—वामनरूपधारी विष्णु ने, अत्युग्रैः—अत्युत्कट, तपोभिः—तपस्या के द्वारा, सिद्धिम्—सिद्धि को, लब्ध्वा—प्राप्त करके, सकलभुवनव्यापिना—तीनों लोक को व्याप्त करने वाले, विग्रहेण—शरीर से, दानवानाम्—दैत्यों के, ईशम्—स्वामी को, भुजगसदने—पाताल में, वासम्—निवास, प्रापयत्—लाया, इति—इस प्रकार से, अभिज्ञः—वामन-बलि की कथाओं के जानकार, जनः—लोग, आगन्तून—दूसरे देशों से आये हुए, बन्धून्—बान्धवों का, यत्र—जहाँ पर, रमयति—मन बहलाया करते हैं, किल—निश्चयार्थक अव्यय।

अर्थ: — (हे नाथ !) इस अवन्ती में पूर्वकाल में मुनिश्रेष्ठ वामनावतार भगवान् विष्णु ने अत्युत्कट तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त करके, तीनों लोक को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याप्त करने वाले शरीर से राक्षसों के स्वामी बलि का (सर्वस्व जीतकर उसका) निवास-स्थान पाताल में दिया, इस प्रकार वामन-बलि की कथाओं के जानकार लोग दूसरे देश से आए हुए बन्धुओं का जहाँ-पर मनोविनोद करते हैं।

टिप्पणी — अभिज्ञः-'अभि जानातीति' इस विग्रह में 'अभि' पूर्वक ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु से 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से 'क' प्रत्यय होकर 'अभिज्ञः' रूप बनता है।

तामासाद्य प्रवरनगरीं विश्रुतां सन्निवासं,
कुर्याः पौरैर्नृवर ! विहितानेकपूजोपहारः[1]।
आस्तीर्णान्तर्विमलशयनेष्वग्रसौधेषु कामं,
नीत्वा खेदं ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ ३६ ॥

अन्वयः — (हे) नृवर ! ताम्, विश्रुताम्, प्रवरनगरीम्, आसाद्य, पौरैः, विहितानेकपूजोपहारः, आस्तीर्णान्तर्विमलशयनेषु, ललितवनितापादरागाङ्कितेषु, अग्रसौधेषु, खेदम्, कामम्, नीत्वा, सन्निवासम्, कुर्याः।

तामासाद्येति। नृवर ! तां विश्रुतां प्रवरनगरीं हे नृपश्रेष्ठ ! त्वं पूर्वोक्तां विख्यातां प्रधानपुरीम्, आसाद्य प्राप्य। पौरैः विहितानेकपूजोपहारः नगरवासिभिः कृतविविधपूजोपहारः। आस्तीर्णान्तर्विमलशयनेषु—आस्तीर्णानि—वासोभिः संवृतानि अन्तर्मध्ये विमलानि शयनानि—शय्या येषु तानि तेषु। ललितवनितापादरागाङ्कितेषु सुन्दराङ्गनाचरणलाक्षारुचि-चिह्नितेषु। अग्रसौधेषु खेदं कामं नीत्वा अट्टालिकासु श्रमं स्वेच्छया अपनीय, मार्गपरिश्रमं दूरीकुर्वन् इति भावः। सन्निवासं अधिवासं कुर्याः [विधिलिङ्ग मध्यम पुरुष एकवचन] कुरु॥ ३६॥

शब्दार्थः — नृवर—हे नृपश्रेष्ठ !, तां विश्रुतां—उस विख्यात, प्रवरनगरीम्—प्रधान नगरी को, आसाद्य—प्राप्त करके, पौरैः—नगरवासियों द्वारा, विहितानेकपूजोपहारः—किये गए अनेक प्रकार के पूजोपहार, आस्तीर्णान्तर्विमलशयनेषु—वस्त्रों द्वारा संवृत निर्मल शय्या पर, ललितवनितापादरागाङ्कितेषु—सुन्दर स्त्रियों के पैरों में लगे महावर के चिह्न से चिह्नित,

1. 'पूजोपहारः' स्थाने 'पूजोपचाराः' इति पाठान्तरम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्रसौधेषु—प्रधान महलों में, खेदम्—परिश्रम को, कामम्—अपनी इच्छानुसार, नीत्वा—दूर कर, सन्निवासम्—निवास (आराम), कुर्याः—करना।

अर्थः — हे नृपश्रेष्ठ ! (तुम) उस विख्यात अवन्ती नगरी को प्राप्त करके नगरवासियों द्वारा किये गए अनेक प्रकार के पूजोपहार द्वारा (सत्कृत होकर) वस्त्रों से संवृत निर्मल शय्या पर सुन्दर स्त्रियों के पैरों में लगे महावर के चिह्न से चिह्नित प्रधान महलों में (मार्गजन्य) परिश्रम को अपनी इच्छानुसार दूर कर निवास करना।

टिप्पणी — उपहार - उप + हृ धातु + घञ् प्रत्यय।

उद्यानानामुपतटभुवामुज्जयन्त्याः समंता-
दातन्वद्भिर्विपुलविगलन्मालतीजालकानि ।
अङ्गान्मार्गश्रमजलकणान्सेव्यसेऽस्यां हरद्भि-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ३७ ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) अस्याम्, उपतटभुवाम्, उज्जयन्त्याः, उद्यानानाम्, विपुलविगलन्मालतीजालकानि, आतन्वद्भिः, तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः, मरुद्भिः, अङ्गान्मार्गश्रमजलकणान् हरद्भिः, समन्तात्, सेव्यसे।

उद्यानानामिति। अस्याम् उपतटभुवां हे नाथ ! नगर्यां शिप्रायाः तटस्य समीपमिति उपतटं (अव्ययीभावः) तत्र भूरुत्पत्तिर्येषां तानि तेषाम् इति। उज्जयन्त्याः उद्यानानाम् आरामानाम्। विपुलविगलन्मालतीजालकानि विपुलविस्तीर्णानि विगलन्ति मकरन्दं क्षरन्ति, यानि मालतीनां नवकुड्मलानि तानि, आतन्वद्भिः विस्तारयद्भिः (बहुव्रीहि)। तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः जलक्रीडातत्परवनिताऽवगाहनसुगन्धितैर्वायुभिः [तोये क्रीडा—तोयक्रीडा (स० तत्०), तस्यां निरताः—तोयक्रीडानिरताः, ताश्च युवतयः—तोयक्रीडानिरतयुवतयः (कर्मधारय) तासां स्नानं (ष० तत्०) ते तिक्तास्तैः (तृ० तत्०)]। अङ्गान्मार्गश्रमजलकणान् हरद्भिः शरीरादध्वपरिश्रमस्वेदबिन्दूनपनयद्भिः। समन्तात् सेव्यसे भज्यसे॥ ३७॥

शब्दार्थः — अस्याम्—इस नगरी में, उपतटभुवाम्—शिप्रानदी के तट के समीप वाली भूमि में, उज्जयन्त्याः—उज्जयिनी (अवन्ती) के, उद्यानानाम्—उद्यानों के, विपुलविगलन्मालतीजालकानि—अधिक मकरन्दों को बहाने वाले मालती पुष्प की कलियों को, आतन्वद्भिः—खिलाने के द्वारा, तोय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः—जल-क्रीडा में आसक्त युवतियों के स्नान से सुगन्धित वायु के द्वारा, अङ्गान्मार्गश्रमजलकणान् हरद्भिः—शरीर से मार्गपरिश्रम के कारण उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं को दूर करने के द्वारा, समन्ताद्—सभी तरफ से, सेव्यसे—(तुम) सेवित होगे।

अर्थ: — (हे नाथ !) इस नगरी में, शिप्रानदी के तट के समीप स्थित उज्जयिनी के बगीचों के अधिक मकरन्दों को बहाने वाले मालती पुष्प की कलियों को खिलाते हुए तथा जल-क्रीडा में आसक्त युवतियों के स्नान से सुगन्धित शिप्रा नदी की वायु द्वारा शरीर से मार्गपरिश्रम के कारण उत्पन्न स्वेद-बिन्दुओं को दूर करने के द्वारा (तुम) सभी तरफ से सेवित होगे।

तत्रोपास्यः प्रथितमहिमा नाथ ! देवस्त्वयाद्यः[1],
प्रासादस्थः क्षणमनुपमं यं निरीक्ष्य त्वमक्ष्णोः ।
शृण्वन्पूजामुरजनिनदान्वारिवाहस्य तुल्या,
नामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ।। ३८ ।।

अन्वयः — (हे) नाथ ! तत्र, प्रासादस्थः, प्रथितमहिमा, आद्यः देवः, त्वया, उपास्यः, यम्, अनुपमम्, त्वम्, क्षणम्, निरीक्ष्य, वारिवाहस्य, आमन्द्राणाम्, गर्जितानाम्, तुल्यान्, पूजामुरजनिनदान्, शृण्वन्, अक्ष्णोः, अविकलम्, फलम्, लप्स्यसे।

तत्रोपास्य इति। नाथ ! तत्र प्रासादस्थः हे नाथ (भद्र) ! उज्जयन्त्यां मन्दिरावस्थितः। प्रथितमहिमा आद्यो देवः प्रख्यातप्रसिद्धिर्कीर्ति वा आदो भवः देव इति शिवः [केचित्तु आद्यो देवः शब्देन जिनः स्वीक्रियते यत् नोचितं प्रतिभाति, यतः आद्यः देवः शंकर इति सर्वे मन्यन्ते]। त्वया उपास्यः नेमिना सेव्यः। यमनुपमं त्वं क्षणं निरीक्ष्य मन्दिरावस्थितः अनुपमं देवं नेमिः मुहूर्तमवलोक्य। वारिवाहस्य आमन्द्राणां गर्जितानां मेघस्य ईषद्गम्भीराणां स्तनितानां तुल्यान्। पूजामुरजनिनदान् शृण्वन् पूजार्थं ये मृदंगध्वनयस्तान् श्रवणविषयी कुर्वन्। अक्ष्णोः अविकलं फलं लप्स्यसे तव नेत्रयोः सम्पूर्णं पुण्यं प्राप्स्यसि ।। ३८ ।।

शब्दार्थः — नाथ !—भद्र !, तत्र—वहाँ पर, प्रासादस्थः—मन्दिर-

---

१. 'देवस्त्वया यः' इति पाठान्तरम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थित, प्रथितमहिमा—प्रख्यात महिमा वाले, आद्यः देवः—आदि देव, त्वया—तुम्हारे (नेमि) द्वारा, उपास्यः—उपासना के योग्य, यमनुपमम्—जिस अनुपम देव को, त्वम्—तुम, क्षणम्—क्षण भर, निरीक्ष्य—देखकर, (तथा) वारिवाहस्य—मेघ के, आमन्द्राणाम्—किञ्चिद् गम्भीर, गर्जितानाम्—गर्जन के, तुल्यान्—सदृश, पूजामुरजनिनदान्—पूजा के समय प्रयुक्त मृदंगादि की ध्वनियों को, शृण्वन्—सुनते हुए, अक्ष्णोः—नेत्रों का, अविकलम्—सम्पूर्ण, फलम्—फल को, लप्स्यसे—प्राप्त करोगे।

अर्थः — हे भद्र ! उस उज्जयिनी में मन्दिर-स्थित प्रख्यात महिमा वाले आदि देव (भगवान् शंकर) तुम्हारे द्वारा उपासना के योग्य हैं, जिस अनुपम देव को देखकर तथा मेघ के हल्के गम्भीर गर्जन के समान पूजाकाल में उरज प्रभृति वाद्य-ध्वनियों को श्रवण का विषय करते हुए तुम्हारी आँखें सम्पूर्ण फल प्राप्त करेंगी।

त्वद्रूपेणापहृतमनसो विस्मयात्पौरनार्यः,
सौन्दर्याधःकृत-मनसिजो राजमार्गं प्रयाति।
प्रातस्तस्यां कुवलयदलश्यामलाङ्गे सलीला,
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ ३९ ॥

अन्वयः — (हे नाथ !) सौन्दर्याधःकृतमनसिजः, त्वद्रूपेणापहृतमनसः, विस्मयात्पौरनार्यः, तस्याम्, प्रातः, राजमार्गम्, प्रयाति (सति), कुवलयदलश्यामलाङ्गे, त्वयि, सलीला, मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्, न, आमोक्ष्यन्ते।

त्वद्रूपेणापहृतमनस इति। सौन्दर्याधःकृतमनसिजः शरीरसौभाग्यतिरस्कृतकामः। त्वद्रूपेणापहृतमनसः भवतः नेमेः आकृतिनापहृतहृदः, विस्मयात्पौरनार्यः आश्चर्येण पौरस्त्रियः नगरनिवासिनीस्त्रियः इति भावः। तस्यां उज्जयन्त्यां प्रातः, राजमार्गं प्रयाति गच्छति सति। कुवलयदलश्यामलाङ्गे त्वयि नीलकमलपत्रकृष्णशरीरे भवति नेमौ इत्यर्थः। सलीला विलास सहिता। मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् भ्रमरपंक्तीवायतानपाङ्गान् [मधुकराणां श्रेणी मधुकर श्रेणी तद्वद्दीर्घान् मधुकरश्रेणिदीर्घान् — उपमानानि सामान्यवचनैरिति समासः]। नामोक्ष्यन्ते न परित्यक्ष्यन्ति, अपितु परित्यक्ष्यन्ति इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः — सौन्दर्याधःकृतमनसिजः — सुन्दरता से कामदेव को तिरस्कृत करने वाले, त्वद्रूपेणापहृतमनसः—तुम्हारे रूप से अपहृत हृदय वाली, विस्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यात्पौरनार्यः—आश्चर्य के कारण नगरनिवासिनीस्त्रियाँ, तस्याम्—उस उज्जयिनी में, प्रातः—सूर्योदय काल, राजमार्गम्—नगर के मार्ग को, प्रयाति—जाते (हुए), कुवलयदलश्यामलाङ्गे—नीलकमल पत्र के सदृश श्याम शरीर वाले, त्वयि—तुम्हारे ऊपर, सलीला—लीला युक्त (विलास युक्त), मधुकरश्रेणिदीर्घान्किटाक्षान्—भ्रमरों की पंक्ति की तरह लम्बी कटाक्ष, न—नहीं, आमोक्ष्यन्ते—फेकेंगी ।

अर्थः — (हे नाथ !) सौन्दर्य से कामदेव को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे रूप से अपहृत चित्त वाली आश्चर्य के कारण पुरनिवासिनी स्त्रियाँ, उस उज्जयिनी (नगरी) में, प्रातःकाल राजमार्ग पर जाते हुए नीलकमल पत्र के सदृश श्याम शरीर वाले, तुम्हारे ऊपर लीलायुक्त भ्रमरों की पंक्ति की तरह लम्बी कटाक्ष नहीं फेकेंगी, अपितु फेकेंगी ।

तस्याः पश्यन् वरगृहततिं तां व्रजेर्द्यां स्पृशन्तीं,
मैक्यं प्राप्यासितरजनिषु प्रस्फुरद्रत्नदीपाः ।
प्रद्योतन्ते निहततिमिरव्योममार्गाश्च लोकैः,
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ।। ४० ।।

अन्वयः — (हे नाथ !) तस्याः, द्याम्, स्पृशन्तीम्, एक्यं प्राप्य, ताम्, वरगृहततिम्, या, असितरजनिषु, प्रस्फुरद्रत्नदीपाः, निहततिमिरव्योममार्गाः, प्रद्योतन्ते च, लोकैः, शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम्, दृष्टभक्तिः, भवान्, (तां) पश्यन् व्रजे. ।

तस्यां पश्यन्निति । तस्याः द्यां स्पृशन्तीम् उज्जयन्त्याः खमाश्लिष्यन्तीम् । एक्यं प्राप्य उच्चैस्तरत्वादेकात्मकतां लब्ध्वा । तां वरगृहततिं पुरं प्रधान-मन्दिरपंक्तिम् । या असितरजनिषु प्रधानमन्दिरपंक्तिः कृष्णपक्षीयनिशासु । प्रस्फुरद्रत्नदीपाः निहततिमिरव्योममार्गाः, प्रस्फुरन्ति-देदीप्यमानानि रत्नान्येव-दीपा इति भावः, अपहृत्यान्धकाराकाशमार्गः । प्रद्योतन्ते दीप्यन्ते च लोकैः शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं तथा नगरनिवासिनीभिः वनिताभिः इति भावः, विगतभयस्थिरनेत्रम् [शान्त उद्वेगो ययोस्ते शान्तोद्वेगे (बहुव्रीहि) अत एव स्तिमिते नयने यस्मिंस्तत् यथा तथा (बहुव्रीहि) क्रियाविशेषणम्] यथा-स्यात्तथा (त्वम्) । दृष्टभक्तिः भवान् पश्यन् व्रजेः अवलोकितानुरागः [(दृष्टं वस्तु) भक्तिरेव यस्य सः दृष्टभक्तिः (बहुव्रीहि)] त्वं नेमिः पूर्वोक्तां ताम् अवलोकयन् गच्छेः ।। ४० ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थः — तस्याः—उज्जयिनी के, द्याम्— आकाश को, स्पृशन्तीम्—छूती हुई, एक्यं प्राप्य—ऊँचाई से एकत्व को प्राप्त, ताम्—उस, वरगृहततिम्—श्रेष्ठगृहपंक्ति को, या—जो (श्रेष्ठगृहपंक्ति), असितरजनिषु—कृष्णपक्षीय रात्रि में, प्रस्फुरद्रत्नदीपाः—चमकते हुए रत्नरूपी दीपों से, निहततिमिरव्योममार्गः—अन्धकार को समाप्त कर आकाश मार्ग में, प्रद्योतन्ते—देदीप्यमान् है, च—तथा, लोकैः—नगरनिवासिनी वनिताओं द्वारा, शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम्—निर्भय होकर निश्चल आँखों से, दृष्टभक्तिः— देखी गयी है भक्ति जिनकी (ऐसे), भवान्—आप (नेमि), पश्यन्— देखते हुए, व्रजेः—जाना।

अर्थ: — हे नाथ ! अवन्ती के, आकाश को छूती हुई ऊँचाई से एकत्व-भाव को प्राप्त, उस प्रधानमन्दिर पंक्ति को जो कृष्णपक्षीय रात्रि में चमकते हुए रत्नरूपी दीपों के द्वारा अन्धकार को समाप्त कर आकाश मार्ग में देदीप्यमान् है, ऐसी नगरनिवासिनी वनिताओं द्वारा निर्भय होकर निश्चल आँखों से देखी गई है भक्ति जिनकी, ऐसे आप (प्रधानमन्दिर पंक्ति को) देखते हुए जाना।

पौरैस्तस्याः रथमुपहृतं रम्यमास्थाय यान्तं,
द्रष्टुं ग्राम्याः पथि युवतयस्त्वामुपैष्यन्ति तस्मात् ।
शब्दैश्चक्रस्खलदुपलजैरर्थिसार्थे-कृत श्री-
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ ४१ ॥

अन्वयः — तस्याः पौरैः, उपहृतम्, रम्यम् रथम् आस्थाय, यान्तम्, त्वाम्, द्रष्टुम्, ग्राम्याः, युवतयः, पथि, उपैष्यन्ति, तस्मात्, अर्थिसार्थे-कृत श्रीतोयोत्सर्गः, उपलजैः, चक्रस्खलद्, शब्दैः, स्तनितमुखरः, मा, स्मभूः, (यतः) ताः विक्लवाः।

पौरैस्तस्येति। तस्याः पौरैः उपहृतम् उज्जयन्त्याः पुरवासीभिः आनीतम्। रम्यं रथमास्थाय यान्तं सुन्दररथमारुह्य गच्छन्तम्। त्वां द्रष्टुं भवन्तं नेमिं पश्यतुम्। ग्राम्याः युवतयः कामिन्यः, पथि उपैष्यन्ति मार्गे आगमिष्यन्ति। तस्मात्, अर्थिसार्थे कृत श्रीतोयोत्सर्गः याचकसमूहे श्रिय एव तोयानि श्रीतोयानि कृतः श्रीतोयानामुत्सर्गो वितरणं येन स इत्यर्थः। उपलजैः चक्रस्खलद्-शब्दैः पाषाणैः चक्रेषु-रथाङ्गेषु स्खलन्तः-संश्लेषमासादयन्तः ध्वनिभिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तनितमुखरः गर्जनवाचालः। मास्मभूः नो भव यतो हि ताः विक्लवाः तवदर्शनागन्तुमुत्सुकाः स्त्रियः भीरुका [विक्लवाः—वि√क्लु+अच्+टाप्] भवन्ति। अतः ता त्वया न भेतव्याः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः — तस्याः—उज्जयिनी के, पौरैः—नागरिकों द्वारा, उपहृतम्—लाये गये, रम्यं रथमास्थाय—मनोहर रथ पर बैठकर, यान्तम्—जाते हुए, त्वाम्—तुमको, द्रष्टुम्—देखने के लिए, ग्राम्याः युवतयः—गावों की युवतियाँ, पथि—मार्ग में, उपैष्यन्ति—आ जायेंगी, तस्मात्—उस कारण से, अर्थिसार्थे कृत श्रीतोयोत्सर्गः—याचक समूह में श्री की वृष्टि से, उपलजैः—पाषण द्वारा (पर), चक्रस्खलद्शब्दैः—रथ के चक्के के चलने से उत्पन्न शब्द के द्वारा, स्तनितमुखरः—गर्जन से शब्दायमान्, मा—मत, स्मभूः—होना, क्योंकि, ताः—वे ग्राम्य युवतियाँ, विक्लवाः—डरपोक (होती हैं)।

अर्थः — (हे नाथ !) उज्जयिनी के नगरवासियों द्वारा लाए गए सुन्दर रथ पर बैठकर जाते हुए, तुमको देखने के लिए गाँव की युवतियाँ रास्ते पर आ जाएँगी, इस कारण धनरूपी वर्षा के द्वारा याचक समूह को सन्तुष्ट करने वाले तुम, पाषाण पर चलते हुए रथ के चक्के से उत्पन्न शब्द के द्वारा अति कठोर ध्वनि मत करना (क्योंकि) वे युवतियाँ डरपोक होती हैं, अर्थात् युवतियों के आने पर तुम अपनी रथ की गति मन्द कर देना।

त्वामायान्तं पथि यदुवराः केशवाद्याः निशम्य,
प्रीता बन्धूंस्तव पितृमुखान्सौहृदान्नन्दयन्तः।
साकं सैन्यैः रथमभिमुखं प्रेषयिष्यन्ति तूर्णं,
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ४२ ॥

अन्वयः — यदुवराः, केशवाद्याः, पथि, त्वाम्, आयान्तम्, निशम्य, प्रीताः, तव, पितृमुखान्, बन्धून्सौहृदान्, नन्दयन्तः, सैन्यैः, साकम्, रथम्, अभिमुखम्, तूर्णम् प्रेषयिष्यन्ति, सुहृदाम्, अभ्युपेतार्थकृत्याः, न मन्दायन्ते, खलु।

त्वामायान्तमिति। यदुवराः केशवाद्याः यदुप्रधानाः केशवप्रभृतयः। पथि त्वामायान्तं निशम्य मार्गे भवन्तमागच्छन्तं श्रुत्वा। प्रीता तव पितृमुखान्बन्धून्सौहृदान् हृष्टाः सन्तः भवतः समुद्रविजयश्रेष्ठान्बधून्सुहृदः, नन्दयन्तः मोदयन्तः, भवत्पुत्रः नेमिरागच्छतीतिभावः। सैन्यैः साकं रथमभिमुखं वाहिनीभिः सार्धं रथं ते सम्मुखम्। तूर्णं प्रेषयिष्यन्ति शीघ्रं विसर्जयिष्यन्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः मित्राणामङ्गीकृत-क्रियाः [अभ्युपेता अर्थस्य कृत्या यैस्ते अभ्युपेतार्थकृत्याः (बहुव्रीहि)], (जनाः), न खलु मन्दायन्ते नैव मन्दाः न विलम्बत इत्यर्थः ['लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम्] भवन्ति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः — यदुवराः—यदुश्रेष्ठ, केशवाद्याः—केशवप्रभृति, पथि—मार्ग में, त्वाम्—तुमको, आयान्तम्—आते हुए, निशम्य—सुन करके, प्रीताः—प्रसन्न होकर, तव—तुम्हारे, पितृमुखान्बन्धून्सौहृदात्—पितादि प्रमुखजनों तथा मित्रों को, नन्दयन्तः—आनन्दित करते हुए, सैन्यैः साकम्—सेना सहित, रथमभिमुखम्—रथ तुम्हारे सम्मुख, तूर्णम्—शीघ्र, प्रेषयिष्यन्ति—भेजेंगे, (क्योंकि) सुहृदाम्—मित्रों के, अभ्युपेतार्थकृत्याः—कार्य को (करने के लिए) अङ्गीकार कर लिया है, जिन्होंने ऐसे पुरुष, न खलु मन्दायन्ते—कभी आलस्य नहीं करते हैं।

अर्थः — यदुश्रेष्ठ केशवादि प्रभृति मार्ग में तुम्हारे आगमन को सुनकर, प्रसन्न हो तुम्हारे पितादि प्रमुखजनों तथा मित्रों को आनन्दित करते हुए, सैन्यसहित रथ तुम्हारे सम्मुख भेजेंगे (क्योंकि) जिन्होंने मित्रों के कार्यों को करना स्वीकार कर लिया है, वे पुरुष कभी आलस्य कहीं करते।

टिप्पणी — अभ्युपेत – अभि + उप √इ + क्त, अङ्गीकार। कृत्या — √कृ + क्यप् + टाप्, क्रिया।

श्रुत्वा तीरे तदनुजलधेरागतं सोपहारो,
मान्यो मंत्री यदिबलपुराच्छीरिणस्त्वामुपैति।
तस्यादेया स्वशयविहिता सत्क्रिया ते न चेत्स,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ ४३ ॥

अन्वयः — तदनु, त्वाम्, जलधेः, तीरे, आगतम्, श्रुत्वा, यदिबलपुराच्छीरिणः, मान्यो मन्त्री, सोपहारः, उपैति, तस्य, स्वशयविहिता, सत्क्रिया, ते आदेया, चेत्, न प्रत्यावृत्तः, त्वयि कररुधि, स, अनल्पाभ्यसूयः, स्यात्।

श्रुत्वा तीरेति। तदनु त्वां जलधेः तीरे तदनुपश्चात् भवन्तं नेमिं समुद्रस्य तटे। आगतं श्रुत्वा आगमनं निशम्य। यदि बलपुराच्छीरिणो मान्यो मन्त्री चेत् बलपुरात्सीरिनगरात् सीरिणः—बलभद्रस्य गौरवार्हो सचिवः। सोपहारो उपैति सोपायान् आगच्छति। तस्य स्वशयविहिता सत्क्रिया तदा मन्त्रिणः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वपाणिनिर्मिता वस्त्रादिपूजा, ते आदेया त्वया ग्राह्या [युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थीत्यादिषु विपरीतग्रहणात्क्वचिदन्यत्राप्यादेशः स्यादिति तृतीयायामपि ते इत्यादेशः]। चेत् न प्रत्यावृत्तः यदि तत्र प्रत्यागतः [प्रत्यावृत्तः—प्रति+आ-√वृत्+क्त]। त्वयि कररुधि तर्हि भवति नेमौ इत्यर्थः, करावरोधे सति स ते अनल्पाभ्यसूयः प्रकामेर्ष्यः भवेत् ।। ४३ ।।

शब्दार्थः — तदनु—पश्चात्, त्वाम्—तुम (नेमि) को, जलधेः—समुद्र के, तीरे—तट पर, आगतम्—आया हुआ, श्रुत्वा—सुन करके, बलपुराच्छीरिणः—(यदि) नगर से बलभद्र के, मान्यो मन्त्री—श्रेष्ठ सचिव, सोपहारो उपैति—उपहार के साथ आते हैं, (तो), तस्य—उस (मन्त्री) के, स्वशयविहिता—अपने हाथ से निर्मित, सत्क्रिया—वस्त्रादि पूजा, ते—तुम्हारे द्वारा, आदेया—ग्रहण कर लेना चाहिए, चेत्—यदि, न प्रत्यावृत्तः—अङ्गीकार नहीं हुआ, (तो), त्वयि—तुम्हारे (द्वारा), कररुधि—कर के रोके जाने पर, सः—वह, अनल्पाभ्यसूयः—अत्यधिक द्वेष वाले, स्यात्—हो जायेंगे ।

अर्थः — इसके बाद तुमको समुद्र के तट पर आया हुआ सुनकर यदि नगर से बलभद्र के मन्त्री उपहार के साथ आते हैं (तो) उनके अपने हाथों से निर्मित वस्त्रादिपूजा को तुम ग्रहण कर लेना, (क्योंकि) यदि मन्त्री के सत्कार को तुमने स्वीकार नहीं किया तो तुम्हारे द्वारा कर के रोके जाने पर वे (तुम्हारे प्रति) अधिक क्रुद्ध हो जायेंगे ।

गच्छेर्वेलातटमनु ततस्तोयमुल्लासिमत्स्यं,
त्वत्संकाशच्छविजलनिधेस्तस्य पश्यन्रथस्थः ।
यः कामीव क्षणमपि सरित्कामिनीनां न शक्तो,
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ।। ४४ ।।

अन्वयः — ततः, त्वत्संकाशच्छविजलनिधेः, तोयमुल्लासिमत्स्यम्, पश्यन्, तस्य, वेलातटमनु, रथस्थः, गच्छेः, यः, कामीव, सरित्कामिनीनाम्, चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि, मोघीकर्तुम्, क्षणमपि, न शक्तः ।

गच्छेर्वेलातटमनु इति । ततः त्वत्संकाशच्छविजलनिधेः तत्पश्चात् तव सन्निभाः कान्तिर्यस्य समुद्रस्य । तोयमुल्लासिमत्स्यं पश्यन् तस्य वेलातटमनु अवलोकयन् समुद्रस्य धारा-प्रवाहतीरमनुलक्षीकृत्य । रथस्थः गच्छेः त्वं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यन्दानारूढो व्रजेः । यः कामीव सरित्कामिनीनां यः समुद्रः कामुकयथा सरित एव—नद्य एव कामिन्यः सरित्कामिनीनाम् । चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि मोघीकर्तुं चञ्चलमत्स्योल्लुण्ठनानि [चटुलानि च तानि शफरोद्वर्तनानि चटुलशफरोद्वर्तनानि (कर्मधारय), तान्येव प्रेक्षितानि = चटुल-शफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि (रूपक०)] विफलीकर्तुम् (मोघीकर्तुम्—मोघ + च्वि, ईत्व, √कृ + तुमुन्) । क्षणमपि न शक्तः मुहूर्तमपि न समर्थोऽस्ति ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः — ततः—इसके बाद, त्वत्संकाशच्छविजलनिधेः—तुम्हारी कान्ति सदृश समुद्र के, तोयमुल्लासिमत्स्यम्—जल में उल्लसित मछलियों को, पश्यन्—देखते हुए, तस्य—समुद्र के, वेलातटमनु—धारा-प्रवाह से युक्त तट से, रथस्थः—रथारूढ़ हो, गच्छेः—जाना, यः—जो समुद्र, कामीव—कामुक की तरह, सरित्कामिनीनाम्—नदी रूपी वनिताओं के, चटुलशफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि—चञ्चल मछलियों के उच्छलन रूप चितवनों को, मोघीकर्तुम्—निष्फल करने में, क्षणमपि—पलभर भी, न शक्तः—समर्थ नहीं (है) ।

अर्थः — इसके बाद, तुम्हारे कान्ति सदृश समुद्र के जल में उल्लसित मछलियों को देखते हुए, समुद्र के धारा-प्रवाहयुक्त तट से (तुम) रथारूढ़ होकर जाना, जो समुद्र कामुक की तरह नदी रूपी वनिताओं के चञ्चल मछलियों के उच्छलन रूप चितवनों को निष्फल करने में पलभर भी समर्थ नहीं है ।

तां वेलांके विमलसलिलामागतां द्रक्ष्यसि त्वं,
पूर्वोद्दिष्टां सरितमसकृद्वारिधिर्वीचिहस्तैः ।
यामालिंग्योपरमति पिबन्यन्मुखं न क्षणार्द्धं,
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां[१] को विहातुं समर्थः ॥ ४५ ॥

अन्वयः — त्वम्, पूर्वोद्दिष्टाम्, वेलांके, आगताम्, विमलसलिलाम् तां सरितम्, द्रक्ष्यसि, याम्, वारिधिः, वीचिहस्तैः, आलिंग्य, यन्मुखम्, असकृद्, पिबन्, क्षणार्द्धम्, न, उपरमति, ज्ञातास्वादः, कः; विवृतजघनाम्, विहातुम् समर्थः ।

तां वेलांकेति । त्वं पूर्वोद्दिष्टां हे नाथ ! त्वं नेमि इत्यर्थः; पूर्वोक्ताम् ।

१. पुलिनजघनाम्, विपुलजघनामिति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेलांके आगतां विमलसलिलां धाराप्रवाहोत्सङ्गे प्राप्तां निर्मलजलाम्। तां सरितं द्रक्ष्यसि नदीम् अवलोकयिस्यसि। यां वारिधिर्वीचिहस्तैः यां नदीं समुद्र-तरङ्गकरैः। आलिंग्य यन्मुखम् असकृद्, आश्लिष्य नद्याराननम् अधरमित्यर्थः, वारं वारं पिबन्। क्षणार्द्धं नोपरमति क्षणमात्रमपि न विरमति। ज्ञातास्वादः कः यतो हि अनुभूतकामिनीसंभोगसुखः (ज्ञातः स्वादो येन सः ज्ञातास्वादः, बहुव्री०) पुरुषः। विवृतजघनां विहातुं समर्थः प्रदर्शित-कटिपूर्वभागां (विवृतं जघनं यस्याः ताम् विवृतजघनाम्, बहुव्री०) त्यक्तुं (वि√हा+तुमुन्) योग्य इति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः — त्वम्—तुम (नेमि), पूर्वोद्दिष्टाम्—पहिले कही गई, वेलांके—प्रवाह के गोद में, आगताम्—आई हुई, विमलसलिलां तां सरितम्—निर्मल जल वाली उस नदी को, द्रक्ष्यसि—देखोगे, याम्—जिस (नदी) को, वारिधिर्वीचिहस्तैः—समुद्र अपने लहर रूपी हाथों के द्वारा, आलिङ्ग्य—आलिङ्गन कर, यन्मुखम्—नदी के मुख अर्थात् अधर को, असकृद्—वारम्वार, पिबन्—पीते हुए, क्षणार्द्धम्—पलभर भी, न—नहीं, उपरमति—विरत होता है, (क्योंकि) ज्ञातास्वादः—जिसने स्त्री के सम्भोग-सुख का अनुभव कर लिया है ऐसा, कः—कौन पुरुष, विवृतजघनाम्—उघड़ी जंघाओं वाली (कामिनी) को, विहातुम्—छोड़ने के लिए, समर्थः—समर्थ होगा, अर्थात् कोई नहीं।

अर्थः — तुम पहिले कही गई धारा-प्रवाह के गोद में आई हुई निर्मल जल वाली उस नदी को देखोगे, जिस (नदी) को समुद्र अपने लहररूपी हाथों से आलिङ्गन कर नदी रूपी कामिनी के अधर का वारम्वार चुम्बन करते हुए पल भर भी (उससे) विरत नहीं होता है, (क्योंकि) जिसने कामिनी-संभोग-सुख का अनुभव कर लिया है ऐसा कौन पुरुष होगा जो उघड़ी जंघाओं वाली स्त्री को छोड़ सकता है ? अर्थात् कोई नहीं छोड़ सकता है।

तस्मिन्नुच्चैर्दलितलहरीसीकरासारहारी,
वारांराशेस्तटजविकसत्केतकामोदरम्यः।
सेवं मार्गक्रमणजनितं ते हरिष्यत्यजस्रं,
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः — तस्मिन्, तटजविकसत्कैतकामोदरम्यः, दलितलहरीसीकरासारहारी, काननोदुम्बराणाम्, परिणमयिता, उच्चैः वारांराशेः शीतो वायुः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अजस्रम्, ते, मार्गक्रमणजनितम्, खेदम्, हरिष्यति।

तस्मिन्निति। तस्मिन् तटजविकसत्केतकामोदरम्यः वेला-धारा-प्रवाहतटे तटजानि-तीरोद्भवानि विकसन्ति प्रफुल्लानि यानि केतकानि-केतकीपुष्पाणि तेषां च आमोदः परिमलस्तेन रम्यः मनोहारी। दलितलहरीसीकरासारहारी दलिता-द्वेधीकृता या लहर्यः-कल्लोलास्तासां ये सीकरा-वातप्रेरिता जलकणा-स्तेषां, च आसारो-वेगवान्वर्षस्तेन हारी-रुचिर इतिभावः। काननोदुम्बराणां परिणमयिता तथा वन्यहेमदुग्धकानां (काननेषु उदुम्बराणाम्-काननोदुम्बरा-णाम्, स० तत्०) परिपाकयिता (परिणमयिता—परि√नम्+णिच्+तृच्)। उच्चैः वारांराशेः शीतो वायुः अजस्रम् अतिशयेन समुद्रस्य हिमः पवनः निरन्तरम्। ते मार्गक्रमणजनितं खेदं तव नेमिरित्यर्थः, अध्वगमनोत्पन्नं परि-श्रमम्, हरिष्यति अपनेष्यति (हरिष्यति—√हृ+लृट्)॥ ४६॥

शब्दार्थः—तस्मिन्—उस वेला तट पर, तटजविकसत्केतकामोदरम्यः—तीर में उत्पन्न होने वाले केतकी पुष्पों के मकरन्दों से सुगन्धित, दलित-लहरीसीकरासारहारी—टुकड़े-टुकड़े हुए लहरों के जलकणों की तेजवर्षा से रुचिकर, तथा, काननोदुम्बराणाम्—जंगली गूलरों को, परिणमयिता—पकाने वाली, उच्चैः—कोलाहल पूर्वक, वारांराशेः—समुद्र की, शीतो वायुः—ठंडी हवा, अजस्रम्—निरन्तर, ते—तुम्हारा, मार्गक्रमणजनितम्—रास्ता गमनोत्पन्न, खेदम्—श्रम को, हरिष्यति—हरण करेगा, दूर करेगा।

अर्थः—उस वेला तट पर उत्पन्न होने वाले केतकीपुष्पों के मकरन्दों से सुगन्धित, चूर-चूर हुए लहरों के जलकणों की तेज वर्षा से रुचिकर (तथा) वन गूलरों को पकाने वाला, कोलाहलपूर्वक समुद्र का शीतल पवन निरन्तर तुम्हारे मार्गगमनजन्य श्रम को दूर करेगा।

नाम्ना रत्नाकरमथ पुरस्त्वं व्रजेर्वीक्षमाणो,
जज्ञे यस्माद्भुवनभयकृत्तत्पुरा कालकूटम्।
यत्रासाध्यं निवसति जगद्दाहदक्षं जलाना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥ ४७॥

अन्वयः—अथ, त्वम्, रत्नाकरम्, नाम्ना, वीक्षमाणः, पुरः, व्रजेः, हि, यस्मात्, पुरा, भुवनभयकृत्, तत्, कालकूटम्, यज्ञे, यत्र, जलानाम्, हुतवह-मुखे, सम्भृतम्, अत्यादित्यम्, जगद्दाहदक्षम्, तत्, असाध्यम्, तेजः, निवसति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम्ना रत्नाकरमथेति। अथ त्वं रत्नाकरं नाम्ना अनन्तरं भवान् नेमि इत्यर्थः, रत्नाकरनाम्ना समुद्रम्। वीक्षमाणः पुरः व्रजेः अवलोकमानः (वि √ईक्ष्, शानच् + विभक्तिः) गच्छेः। हि यस्मात्पुरा भुवनभयकृत् यतो हि रत्नाकरात् पूर्वं जगत्त्रयभीतिविधायकम्। तत्कालकूटं यज्ञे तत् विषं जातम्। यत्र जलानां हुतवहमुखे यस्मिन् अपां मध्ये अग्निवदने (हुतस्य वहः—हुतवहः, ष० तत्०, हुतवहस्य मुखे—हुतवहमुखे, ष० तत्०)। सम्भृतमत्यादित्यं सञ्चितं दिनकरातिशायि (आदित्यमतिक्रान्तमिति—अत्यादित्यम्, मयूर-व्यंसका०)। च जगद्दाहदक्षं तदसाध्यं तेजः निवसति तथा जगतामपि दाहे प्रवीणं भयावहं वा प्रतापः शंकर-प्रतिमूर्ति एवाऽस्ति, वसति ॥ ४७ ॥

शब्दार्थः— अथ—इसके बाद, त्वम्—तुम (नेमि), रत्नाकरं नाम्ना—रत्नाकर नामक समुद्र को, वीक्षमाणः— देखते हुए, पुरः—आगे, व्रजेः—जाना, हि—क्योंकि, यस्मात्—जिस (रत्नाकर) से, पुरा—पहले, भुवन-भयकृत्—लोक को भयभीत करने वाला, तत् कालकूटम्—वह विष, यज्ञे—उत्पन्न हुआ था, यत्र—जहाँ (रत्नाकर के) जलानाम्—जल के (मध्य में), हुतवहमुखे—अग्नि के मुख में, सम्भृतम्—संचित, अत्या-दित्यम्—सूर्य से भी बढ़कर, जगद्दाहदक्षम्—जगत को भी जलाने में समर्थ, तत्—वह असाध्यम्—भयंकर, तेजः—वह तेज, निवसति—निवास करता है।

अर्थः — इसके बाद तुम रत्नाकर नामक समुद्र को देखते हुए आगे जाना। क्योंकि जिस (रत्नाकर) से पुराकाल में लोक को भयभीत करने वाला वह कालकूट अर्थात् विष उत्पन्न हुआ था तथा जहाँ (रत्नाकर के) जल के मध्य में, अग्नि के मुख में (शंकर द्वारा) एकत्रित किया गया। सूर्य से भी बढ़कर (तथा) जगत् को जलाने में समर्थ, वह भयंकर तेज निवास करता है।

त्वामायान्तं तटवनचरा मेघनीलं मयूरा,
दृष्ट्वा दूरान्मधुरविरुतैस्तत्र ये संस्तुवन्ति।
त्वं तान्नेमे ! ध्वनिभिरुदधेः सान्द्रितैः सन्निकृष्टः,
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ ४८ ॥

अन्वयः — तत्र, मेघनीलम्, त्वामायान्तम्, दूरात्, दृष्ट्वा, तटवनचराः,

ये मयूराः, मधुरविरुतैः, संस्तुवन्ति, पश्चात् (हे) नेमे ! सन्निकृष्टः, तान्; त्वम्, उदधेः, सान्द्रितैः, ध्वनिभिः, अद्रिग्रहणगुरुभिः, गर्जितैः, नर्तयेथाः ।

त्वामायान्तमिति । तत्र मेघनीलं त्वामायान्तं तस्मिन् वेलातटे वारिदश्यामं मेघवन्नीलवर्णं वा त्वां नेमिमागच्छन्तं । दूरात् दृष्ट्वा तटवनचराः ये मयूराः विप्रकृष्टत्वादेव अवलोक्य तटवनेषु चरन्ति-विहरन्ति इति तटवनचराः शुक्लापाङ्गाः । मधुरविरुतैः संस्तुवन्ति श्रवणानुकूलध्वनिभिः तव गुणकीर्तनं करिष्यन्ति इति भावः । पश्चात् नेमे ! सन्निकृष्टः तान् अनन्तरं हे नेमे ! समीपीभवन्सन् तान् शुक्लापाङ्गान् । त्वमुदधेस्सान्द्रितैर्ध्वनिभिः भवान् नेमि इत्यर्थः, वारिधेर्घनतां प्राप्तैर्ध्वनिभिः । अद्रिग्रहणगुरुभिः गर्जितैर्नर्तयेथाः गिरिप्रतिध्वनिवद्विगुणितैः स्तनितैः नृत्यङ्कारय ['नर्तयेथाः' इत्यत्र 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इत्यात्मनेपदापवादः 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदं न भवति । तस्य 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरूचिनृतिवदवसः' इति प्रतिषेधात्, 'णिचश्च' इति सूत्रेण आत्मनेपदम्] ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः — तत्र—वहाँ (समुद्र के तट पर), मेघनीलम्—मेघ कान्ति वाले, त्वामायान्तम्—तुमको आते हुए, दूरात्– दूर से (ही), दृष्ट्वा—देखकर, तटवनचराः—तट के वनों में विचरण करने वाले, ये मयूराः—जो मोर समूह, मधुरविरुतैः—(वे) कर्णसुखद ध्वनि द्वारा, संस्तुवन्ति—गुण कीर्तन करेंगे, पश्चात्—इसके बाद, नेमे !—हे नेमि !, सन्निकृष्टः–पास आये हुए, तान्—उन (मयूरों) को, त्वम्—तुम, उदधेः सान्द्रितैः ध्वनिभिः—समुद्र के समान गम्भीर ध्वनि से, अद्रिग्रहणगुरुभिः—गिरि की प्रतिध्वनि से बढ़े हुए, गर्जितैः—गर्जनों से, नर्तयेथाः—नचाना ।

अर्थः—वहाँ (समुद्र के तट पर) मेघकान्ति वाले तुमको आते हुए दूर से ही देखकर के तट के वनों में विहार करने वाले मोर समूह कर्णसुखद ध्वनि द्वारा (तुम्हारा) गुणकीर्तन करेंगे । इसके बाद, हे नेमि ! समीप आये हुए उन (मयूरों) को तुम समुद्र के समान गम्भीर ध्वनि से, गिरि की प्रतिध्वनि से बढ़े हुए गर्जनों से, नचाना ।

उत्कल्लोला विपुलपुलिनाग्रेऽथभद्राभिधाना,
सा ते सिन्धुर्नयनविषयं यास्यति प्रस्थितस्य ।
वातोद्धूतैर्हसति सलिलैर्या शशांकांशुगौरैः,
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥ ४९ ॥

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

अन्वय: — अथ, प्रस्थितस्याग्रे, उत्कल्लोला:, विपुलपुलिना, भद्राभिधाना, सा, सिन्धुः, ते, नयनविषयम्, यास्यति, या, वातोद्धूतैः, शशांकांशुगौरैः, सलिलैः भुवि, स्रोतोमूर्त्या, परिणताम्, रन्तिदेवस्य, कीर्तिम्, हसति ।

उत्कल्लोलेति । अथ प्रस्थितस्याग्रे अनन्तरं प्रवृत्तस्याग्रे उत्कल्लोला विपुलपुलिना ऊद्ध्र्वलहर्यः पृथुलतटेन् । भद्राभिधाना सा सिन्धुः भद्राख्या नदी । ते नयनविषयं यास्यति तव नेमेः दृग्गोचरं भविष्यति । या वातोद्धूतैः शशांकांशुगौरैः सा भद्रा वातेनोद्धूतानि उच्छलितानि वातोद्धूतानि तैः चन्द्रज्योत्स्नाधवलैः । सलिलैः जलैः, भुवि स्रोतोमूर्त्या अवनौ नदीरूपेण । परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्ति हसति परिवर्तिताम् एतन्नामकस्य दशपुरनरेशस्य यशः तिरस्करोति ।। ४९ ।।

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, प्रस्थितस्याग्रे—आगे बढ़ने पर सामने (पहिले), उत्कल्लोलाः—तीव्रलहर से युक्त, विपुलपुलिना—चौड़ी तटवाली, भद्राभिधाना—भद्रा नामक, सा सिन्धुः—वह नदी, ते—तुम्हारे, नयनविषयम्—नयन का विषय, यास्यति—होगा, या—जो (भद्रा नामक नदी), वातोद्धूतैः—वायु से कम्पित होकर, शशांकांशुगौरैः—चन्द्रमा की ज्योत्स्ना की तरह धवल, सलिलैः—जल से, भुवि—पृथ्वी पर, स्रोतोमूर्त्या—नदी रूप से, परिणताम्—परिणत हो, रन्तिदेवस्य—इस नाम के दशपुर के राजा के, कीर्तिम्—यश को, हसति—तिरस्कृत करती है ।

अर्थः — इसके बाद, आगे बढ़ने पर सामने तीव्र-लहर से युक्त चौड़ी तट वाली भद्रा नामक वह नदी तुम्हारे नयन का विषय होगा, जो वायु से कम्पित होकर चन्द्रज्योत्स्ना की तरह स्वच्छ जल के द्वारा पृथ्वी पर नदी रूप में परिणत होकर रन्तिदेव नामक दशपुर के राजा के यश को तिरस्कृत करती है ।

टिप्पणी — सिन्धु —कुछ लोगों के अनुसार सिन्धु नामक नदी स्वीकार की गई है, किन्तु 'मल्लिनाथ' के अनुसार 'सिन्धु नाम नदी तु कुत्रापि नास्ति'। भद्राभिधाना—'भद्रा' का अर्थ स्वर्ग-गङ्गा से है, अर्थात् स्वर्ग-गङ्गा की तरह भद्रा नामक सिन्धु-नदी । रन्तिदेवः—प्राचीन समय में भरतवंशोत्पन्न संस्कृति के पुत्र 'रन्तिदेव' थे । ये दशपुर के राजा थे तथा बहुत बड़े याज्ञिक, दानी एव प्रतापी थे । इन्होंने ही कबूतर की प्राणरक्षा के लिए अपना मांस काटकर बाज को दिया था ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चैर्भिन्नाञ्जनतनुरुचौ हारिनीरं रथस्थे
तस्यास्त्वय्युत्तरति सरितो यादवेन्द्र ! प्रवाहम् ।
वीक्षिष्यन्ते क्षणमनिमिषा व्योमभाजोऽतिदूरा-
देकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ ५० ॥

अन्वयः — यादवेन्द्र ! तस्याः, सरितः, हारिनीरम्, प्रवाहम्, उत्तरति (सति), भिन्नाञ्जनतनुरुचौ, त्वयि, रथस्थे, उच्चैर्व्योमभाजः, क्षणम्, अनिमिषा, अतिदूराद्, एकम्, स्थूलमध्येन्द्रनीलम्, भुवः मुक्तागुणमिव, (त्वाम्) वीक्षिष्यन्ते ।

उच्चैर्भिन्नाञ्जनेति । यादवेन्द्र ! तस्याः सरितः हारिनीरं प्रवाहं हे नाथ ! भद्रायाः नद्याः मनोहारिजलमोघम्, उत्तरति सति । भिन्नाञ्जनतनुरुचौ-भिन्नं-मर्दितं यदंजनं तद्वत्वपुरुचिः-शरीरकान्तिर्यस्य स तस्मिन् नेमौ इत्यर्थः । त्वयि रथस्थे उच्चैर्व्योमभाजः क्षणमनिमिषा भवति नेमौ इति भावः, स्यन्दनारूढे कुलीनः गगनचारिणो (व्योमभाजः-बहुव्री०) मुनिदेवसिद्धविद्याधरादयः मुहूर्तं निमेषरहिता सन्तः । अतिदूरादेकं स्थूलमध्येन्द्रनीलं भद्रायाः प्रवाहं विप्रकृष्टत्वादेकयष्टिकं तथा पृथुमध्यमणीभूतेन्द्रनीलम् (मध्यश्चासौ इन्द्रनीलः—मध्येन्द्रनीलः, कर्मधा०, स्थूलः मध्येन्द्रनीलो यस्य तम्—स्थूलमध्येन्द्रनीलम्, बहुव्री०) । भुवः मुक्तागुणमिव वीक्षिष्यन्ते पृथिव्याः मौक्तिकहारं यथा (मुक्तायाः गुणम्—मुक्तागुणम्, ष० तत्पु०) त्वामवश्यम् अवलोकयिष्यन्ति ॥ ५० ॥

शब्दार्थः — यादवेन्द्र ! —हे यादवेन्द्र !, तस्याः सरितः—उस सरिता के, हारिनीरम्—मनोहर जल, प्रवाहम्—प्रवाह को, उत्तरति—पार करते हुए, भिन्नाञ्जनतनुरुचौ—मर्दित अञ्जनवत् शरीरकान्तिवाले, त्वयि रथस्थे—तुम्हें रथारूढ़, उच्चैर्व्योमभाजः—कुलीन गगन में विचरण करने वाले (सिद्ध आदि), क्षणम्—क्षणभर, अनिमिषा—अपलक नेत्रों से, अतिदूरात्—अधिक दूरी के कारण, एकम्—एक लड़ी वाली, स्थूलमध्येन्द्रनीलम्—मध्य में इन्द्रनीलमणि से युक्त, भुवः—पृथिवी की, मुक्तागुणमिव—मोती की माला की तरह, वीक्षिष्यन्ते—देखेंगे ।

अर्थः — हे यादवेन्द्र ! भद्रानदी के प्रवाह को पार करते हुए मर्दिताञ्जनवत्शरीरकान्तिवाले (अर्थात् नीलवर्णन वाले) रथारूढ़ तुम्हें गगन में विचरण

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

करने वाले कुलीन सिद्ध आदि क्षणभर अपलक नेत्रों से अधिक दूरी के कारण (भद्रा की प्रवाह को) एक लड़ी वाली तथा मध्य में स्थूल इन्द्रनीलमणि से युक्त पृथिवी की मुक्ता-माला की तरह देखेंगे।

तामुत्तीर्णः पुरमधिवसेरीश ! पौराभिधानं-
नानादेशागतपणचयैः पूर्णरम्यापणं तत् ।
यस्याकाशं स्पृशति निवहो वेश्मनां दिग्विभागान्,
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः — ईश ! ताम्, उत्तीर्णः, नानादेशागतपणचयैः, पूर्णरम्यापणम्, यस्याः, वेश्मनाम्, निवहः, दिग्विभागान्, आकाशम्, स्पृशति, दशपुरवधूनेत्र-कौतूहलानाम्, पात्रीकुर्वन्, पौराभिधानम्, तत्, पुरम्, अधिवसेः ।

तामुत्तीर्णरिति । ईश ! ताम् उत्तीर्णः हे नाथ ! भद्राभिधां नदीं पारङ्-कृत्वा । नानादेशागतपणचयैः पूर्णरम्यापणं नानादेशाद्विविधविषयादागता ये पणचयाः विक्रयसमूहास्तैः पूर्णाभृता रम्याः आपणा-विपणयो यस्मिन्तत् । यस्याः वेश्मनां निवहः तथा दशपुरनगर्याः गृहाणां श्रेणिः, उच्चशिखरत्वाद् इति भावः । दिग्विभागान् आकाशं स्पृशति दश-दशसंख्यकान्-दिगन्तरालानि समाश्लिष्यति । दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानां पात्रीकुर्वन् रन्तिदेव-नगरी-वनिताक्षि-कौतूहलानां (दशपुराणि यत्र तत् दशपुरम्, बहुव्री०) भाजनीकुर्वन् । पौराभि-धानं तत्पुरमधिवसेः रन्तिदेवस्य दशपुराख्यां पू इत्यर्थः, तन्नगरीमधिवासं कुर्याः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः — ईश—हे नाथ, ताम् उत्तीर्णः—भद्रा नामक नदी को पारकर, नानादेशागतपणचयैः—अनेक देशों से आये वणिकों से, पूर्णरम्यापणम्—बिक्री की सुन्दर दूकानों से परिपूर्ण, यस्याः—जिसके, वेश्मनाम्—गृहों की, निवहः—श्रेणि (ऊँचाई के कारण), दिग्विभागान्—दिशाओं को दश भागों में विभक्त कर, आकाशम्—आकाश को, स्पृशति—छूता है; दशपुर-वधूनेत्रकौतूहलानाम्—दशपुर की स्त्रियों के नेत्रों को कौतूहल का, पात्री-कुर्वन्—विषय बनाते हुए, पौराभिधानम्—दशपुरनामक, तत्पुरमधिवसेः—उस पुर में निवास करना ।

अर्थः — हे नाथ ! भद्रा नामक नदी को पार कर के, अनेक देशों से आये वणिकों की सुन्दर दूकानों से परिपूर्ण तथा जिसके मन्दिरों की श्रेणि (ऊँचाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण) आकाश का स्पर्श करती है, ऐसे दशपुर की स्त्रियों के नेत्रों को कौतूहल का विषय बनाते हुए रन्तिदेव की नगरी दशपुर में निवास करना।

तस्माद्वर्त्मानघ ! तव कियद्गच्छतो भावि दुर्गं,
पंकाकीर्णं नवतृणचितं यत्र तोयाशयानाम् ।
कुर्वन्नब्दः किल कलुषतां मार्गणैः प्रागरीणां,
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥ ५२ ॥

अन्वयः — (हे) अनघ ! तस्मात्, गच्छतः तव, नवतृणचितम्, पंकाकीर्णम्, वर्त्म, दुर्गम्, भावि, यत्र, अब्दः, तोयाशयानाम्, कलुषताम्, कुर्वन्, धारापातैः किल, कमलानि, त्वमिव, प्रागरीणाम्, मुखानि, मार्गणैः, अभ्यवर्षत् ।

तस्मादिति । अनघ ! तस्माद्गच्छतो तव नवतृणचितं पंकाकीर्णं वर्त्म हे निष्पाप ! रन्तिदेवस्य पुरात् यदा आवां नेमिराजीमत्यौ गमिष्यत इति भावः, तदा नेमेः नवदूर्वायुक्तं शष्पाकलितं वा कर्दमव्याप्तं मार्गः । दुर्गं भावि दुःखेन गम्यं भविष्यति । यत्र, अब्दः तोयाशयानां कलुषताम् असौ मेघः जलाश्रयाणां मलिनतां कुर्वन् । धारापातैंकिल कमलानि आसारैः निश्चितमेव पंकजानि, त्वमिव प्रागरीणां मुखानि मार्गणैरभ्यवर्षत् नेमिर्यथा पुरा रिपूनां वदनानि शिरांसि वा बाणैः पातयामास तथा अब्दोऽपि ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः — अनघ–हे निष्पाप, तस्मात्—उस (दशपुर) से, गच्छतः—(जब हम दोनों) जायेंगे (उस समय), तव—नेमि का, नवतृणचितम्—नवीन दूर्वाओं से युक्त, पंकाकीर्णम्—कीचड़मय, वर्त्म—मार्ग, दुर्गम्—दुःख से जाने योग्य, भावि—होगा, यत्र—जहाँ, अब्दः—मेघ, तोयाशयानाम्—जलाशयों को, कलुषताम्—मलिन, कुर्वन्—करते हुए, धारापातैः—मूसलाधार वृष्टि के द्वारा, किल—निश्चित रूप से, कमलानि—कमलसमूहों को, त्वमिव—तुम्हारी तरह, प्रागरीणाम्—पहिले शत्रुओं के, मुखानि—शिरों को, मार्गणैः—बाणों के द्वारा, अभ्यवर्षत्—वर्षा की थी, अर्थात् गिराया था (उसी प्रकार यह मेघ भी) ।

अर्थः — हे निष्पाप ! उस (दशपुर) से (जब हम दोनों) जायेंगे (उस समय) तुम्हारा, नवीन दूर्बाओं या घासों से युक्त कीचड़मय, मार्ग कष्ट से जाने योग्य होगा । जहाँ मेघ जलाशयों को मलिन करते हुए मूसला-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार वृष्टि के द्वारा निश्चित रूप से कमलों को (उसी प्रकार गिरायेगा) जिस प्रकार तुमने पहिले शत्रुओं के मस्तकों को बाण की वर्षा द्वारा बेध डाला था।

नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः पुरस्ते,
यास्यत्यक्ष्णोर्विषयमचलो मादनो गन्धपूर्वः।
यं सोत्कण्ठो नवमिवपुनर्वीक्षितुं कान्तहर्षा-
दन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥ ५३॥

अन्वयः — पुरः, नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः, गन्धपूर्वः, मादनः, अचलः, ते, अक्ष्णोर्विषयम्, यास्यति, यम्, पुनः, नवमिव, कान्तहर्षाद्, सोत्कण्ठः, विक्षितुम्, अन्तः शुद्धः, अपि, त्वम्, वर्णमात्रेण, कृष्णः, भविता।

नानारत्नोपचितेति। पुरः नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः हे नाथ! सम्मुखे विविधमणिपरिपुष्टतुङ्गपंक्तिप्रधानः काम्यः वा। गन्धपूर्वः मादनः अचलः गन्धशब्दपूर्वकं मादनो नाम पर्वतः। ते अक्ष्णोर्विषयं यास्यति तव नेत्रयोर्विषयं भविष्यति। यं पुनःनवमिव कान्तहर्षाद् गन्धमादनं पर्वतं भूयः नूतनं यथा चारुप्रमोदात्। सोत्कण्ठः विक्षितुम् अन्तः शुद्धः सौत्सुक्यो द्रष्टुं निर्मलान्तः-करणः सन्-अपि त्वं वर्णमात्रेण कृष्णः भविता भवान् शारीरिकरूपेणैव श्यामः, न तु हृदयेनापि कृष्ण इति भावः, भविष्यसि॥ ५३॥

शब्दार्थः — पुरः—सम्मुख, नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः—अनेक प्रकार के रत्नों से परिपुष्टशिखरपंक्ति से सुन्दर, गन्धपूर्वः—जिसके पूर्व में 'गन्ध' शब्द है ऐसा, मादनः—मादन नामक, अचलः—पर्वत, ते—तुम्हारे; अक्ष्णोर्विषयम्—नेत्र का विषय, यास्यति—होगा, यम्—जिस (पर्वत) को, पुनः—फिर, नवमिव—नये की तरह, कान्तहर्षाद्—रुचिकर होने के कारण; सोत्कण्ठः—उत्सुकतावश, विक्षितुम्—देखने के लिए, अन्तः शुद्धः—भीतर से शुद्ध होकर, अपि—भी, त्वम्—तुम, वर्णमात्रेण—रंगमात्र से, न कि हृदय से भी, कृष्णः—श्यामवर्ण के, भविता—हो जाओगे।

अर्थः — आगे, विविधमणियों से परिपुष्ट शिखर पंक्ति से सुन्दर जिसके पूर्व में 'गन्ध' शब्द है ऐसा मादन नामक पर्वत तुम्हारे नेत्र का विषय होगा। जिस (गन्ध-मादन) को पुनः नये की तरह रुचिकर होने के कारण उत्सुकतावश देखने के लिए भीतर से शुद्ध होकर भी तुम रंगमात्र से श्याम रंग के हो जाओगे (न कि हृदय से भी)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्मिन्पूर्वं किल विरचितो[1] वामभागे भवानीं,
देवीं वीक्ष्य त्रिपुरजयिनः स्वेच्छया केलिभाजः ।
जह्नोः पुत्री तदनुदधतीं तामिवेर्ष्यां सपत्न्याः,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ।। ५४ ।।

अन्वयः — पूर्वम्, यस्मिन्, स्वेच्छया, केलिभाजः; त्रिपुरजयिनः, वामभागे, विरचितः, भवानीम्, देवीम्, वीक्ष्य, तदनु, जह्नोः, पुत्री, ताम्, सपत्न्याः; ईर्ष्याम्, दधतीम्, इव इन्दुलग्नोर्मिहस्ता (सती); शम्भोः; केशग्रहणम्, अकरोत्, किल ।

यस्मिन्पूर्वमिति । पूर्वं यस्मिन् स्वेच्छया पुरा गन्ध-मादन-पर्वते स्वकामेन । केलिभाजः केलि-क्रीडां भजतीति केलिभाक् तस्य, त्रिपुरजयिनः शिवस्य । वामभागे विरचितः वामप्रदेशे स्थितः । भवानीं देवीं पार्वतीम्, वीक्ष्य अवलोक्य । तदनु जह्नोः पुत्री पश्चाद् गङ्गा । तां पार्वतीं सपत्न्याः, ईर्ष्यां दधतीं कुर्वन्तीम् इव । इन्दुलग्नोर्मिहस्ता चन्द्रसंलग्नवीचिकरा [इन्दौ लग्नाः—इन्दुलग्नाः (स० तत्पु०), इन्दुलग्नाः ऊर्मयः एव हस्ताः यस्याः सा इन्दुलग्नोर्मिहस्ता (बहुव्री०) ताम्] शम्भोः शिवस्य, केशग्रहणमकरोत् जटाग्रहणम् [केशानां ग्रहणम्—केशग्रहणम् (ष० तत्पु०)] चकार किलेति सम्भावनायाम् ।। ५४ ।।

शब्दार्थः — पूर्वम्—पुराकाल में, यस्मिन्—जिस (गन्ध-मादन-पर्वत) पर, स्वेच्छया—अपनी इच्छानुसार, केलिभाजः—क्रीड़ा करने वाले, त्रिपुरजयिनः—शिव के, वामभागे—बायें भाग में, विरचितः—स्थित, भवानीं देवीम्—पार्वती देवी को, वीक्ष्य—देखकर, तदनु—पश्चात्, जह्नोः पुत्री—गङ्गा ने, ताम्—उस पार्वती को (से), सपत्न्याः—सौतके कारण, ईर्ष्याम्—द्वेष, दधतीम्—धारण करती हुई, इव—मानो, इन्दुलग्नोर्मिहस्ता (सती)—(शिव के मस्तक पर स्थित) चन्द्रमा पर लहररूपी हाथों को रखती हुई, शम्भोः—शिव के, केशग्रहणम्—केशों को पकड़, अकरोत्—लिया, किया, किल—सम्भावनार्थक अव्यय ।

अर्थः — पुराकाल में जिस (गन्ध-मादन-पर्वत) पर अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करने वाले शिव जी के बायें भाग में स्थित पार्वती देवी को देखकर

१. 'विरचतो' इति ।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

पश्चात् गङ्गा ने उस पार्वती से सौत के कारण ईर्ष्या करती हुई मानो (शिव के मस्तक पर स्थित) चन्द्रमा पर लहररूपी हाथों को रखती हुई शिव जी के केशों को पकड़ लिया।

आरूढस्य स्फटिकमणिभूः श्वेतभानुप्रभा ते,
यस्मिन्शैले विमलविलसत्कान्तितोयप्रवाहा।
संक्रामन्त्या नवघनरुचा छायया स्वर्धुनीव
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥ ५५ ॥

अन्वयः—श्वेतभानुप्रभा, विमलविलसत्कान्तितोयप्रवाहा, स्फटिकमणिभूः, यस्मिन्शैले, आरूढस्य, संक्रामन्त्या, नवघनरुचा, ते, छायया, अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा, स्वर्धुनि, इव, अभिरामा, स्यात्।

आरूढस्येति। श्वेतभानुप्रभा चन्द्रकान्तिवत्। 'विमलविलसत्कान्तितोयप्रवाहा' विमला-निर्मला विलसन्ती-उल्लसन्ती कान्तिरेव तोयप्रवाहा-जलधारा यस्यां सा। स्फटिकमणिभूः स्फटिकमणिभूमिः, यस्मिन्शैले गन्ध-मादन-पर्वते। ते आरूढस्य भवतश्परिचटितस्य। संक्रामन्त्या नव घनरुचा ते छायया संसर्पन्त्या नवो-जलभृतो यो घनस्तद्वद्कान्तिर्यस्याः सा तव शरीरशोभया प्रतिबिम्बेन इति उत्प्रेक्ष्यते। अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा प्रयागभिन्नस्थलप्राप्तकालिन्दी-समागमा [अस्थाने उपगतः—अस्थानोपगतः (स० तत्पु०), यमुनायाः संगमः यमुनासंगमः (ष० तत्पु०), अस्थानोपगतः यमुना संगमो यस्याः सा-अस्थानोपगतयमुनासंगमा (बहुव्री०)] स्वर्धुनि इवाभिरामा स्यात् गङ्गा यथा मनोहरा भवेत् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थः — श्वेतभानुप्रभा—चन्द्रज्योत्स्ना की तरह, विमलविलसत्कान्तितोयप्रवाहा— स्वच्छ चमकती हुई कान्ति है जिसकी जलधारा ऐसी, स्फटिकमणिभूः—स्फटिकमणि की भूमि वाले, यस्मिन्शैले—जिस गन्ध-मादन-पर्वत के, आरूढस्य—ऊपर, संक्रामन्त्या—पड़ने वाली, नवघनरुचा—नूतन जलधर के तरह कान्ति है जिसकी ऐसे, ते—नेमि के, छायया—शरीर की छाया से; परछाईं से, अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा—प्रयाग से भिन्न स्थान में यमुना के साथ संगम करती हुई, स्वर्धुनि—गङ्गा, इव—सी, अभिरामा—मनोहर, स्यात्—प्रतीत होगी।

अर्थः — चन्द्रज्योत्स्ना की तरह स्वच्छ चमकती हुई कान्ति है जिसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलधारा ऐसे स्फटिकमणि की भूमि वाले गन्धमादन-पर्वत के ऊपर पड़ने वाली नूतन जलधरवत् कान्ति है जिसकी ऐसे तुम्हारे शरीर की छाया से प्रयाग से भिन्न स्थान में यमुना के साथ संगम करती हुई गङ्गा सी मनोहर प्रतीत होगी।

भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहत्तुङ्गशृंगाग्रसंस्था:,
संप्रत्युद्यत्परिणतफलश्यामला वामभागे।
यस्मिन्जम्बूक्षितिरुहचया धारयिष्यन्ति सान्द्राः,
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—सम्प्रति, यस्मिन्, वामभागे, सान्द्राः, जम्बूक्षितिरुहचया, उद्यतपरिणतफलश्यामला, भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहत्तुङ्गशृङ्गाग्रसंस्था:, (त्वम्) शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्, शोभाम्, धारयिष्यन्ति।

भास्वद्भास्वन्मणिमयेति। सम्प्रति यस्मिन् अधुना गन्ध-मादन-पर्वते। वामभागे सान्द्राः जम्बूक्षितिरुहचया वामप्रदेशे घनाः स्निग्धाः वा जाम्बतरु-संघाः। उद्यतपरिणतफलश्यामलाः उद्यन्ति परिणतानि पक्वानि यानि फलानि तैः, श्यामलाः अतिशयेन कृष्णवर्णा इत्यर्थः। भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहत्तुंगशृंगा-ग्रसंस्थाः प्रस्फुरद्स्फटिकमणिचयात्युच्चशिखरसान्वाग्रस्थितः उपविष्टः सन् त्वम्। शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् श्वेतशिववृषभविदारितकर्दम-तुल्याम् [त्रीणि नयनानि यस्य स त्रिनयनः (बहुव्री०), त्रिनयनस्य वृषः—त्रिनयनवृषः (ष० तत्०), शुभ्रश्चासौ त्रिनयनवृषः—शुभ्रत्रिनयनवृषः (कर्म०), शुभ्रत्रिनयनवृषेण उत्खातः शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातः (तृ० तत्०), स चासौ पङ्कः (कर्मधा०), शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपंकेनोपमेयाम्—शुभ्रत्रि-नयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् (तृ० तत्०)]। शोभां धारयिष्यन्ति श्रियं वक्ष्यन्ति ॥ ५६ ॥

शब्दार्थः — सम्प्रति—अब, इस समय, यस्मिन्—जिस गन्धमादन के, वामभागे—बायें भाग में, सान्द्राः—घने, जम्बूक्षितिरुहचया—जामुनवृक्षसमूहों, उद्यतपरिणतफलश्यामलाः—पके फलों से श्यामवर्णवाले, भास्वद्भास्वन्मणिमय-बृहत्तुंगशृंगाग्रसंस्थाः—चमकते हुए स्फटिक मणिमय अत्युच्चशिखरशृंग पर स्थित (आप), शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्—शिवजी के श्वेत बैल के द्वारा उखाड़े गये कीचड़ के समान, शोभाम्—कान्ति को, धारयिष्यन्ति—धारण करेंगे।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

अर्थः — सम्प्रति गन्धमादन पर्वत के वामभाग में घने जम्बूवृक्षसमूहों के पके फलों से श्यामवर्णवाले चमकते हुए स्फटिकमणिमय अत्युच्चशिखर-शृङ्ग पर स्थित (बैठे हुए आप) शिवजी के श्वेत बैल के द्वारा उखाड़े गये कीचड़ के समान कान्ति धारण करेंगे।

श्रुत्वा यांतं द्रुतमुपगतास्तत्र वेदानिकाया-
स्त्वां याचन्ते प्रथितयशसं येऽर्थिनो दौस्थ्यदीनाः।
तान्कुर्वीथाः समभिलषितार्थप्रदानैः कृतार्था-
न्नापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥

अन्वयः—तत्र, यांतम्, श्रुत्वा, वेदानिकायाः, द्रुतमुपगताः, दौस्थ्यदीनाः, ये, अर्थिनः, प्रथितयशसम्, त्वाम्, याचन्ते, तान् समभिलषितार्थप्रदानैः, कृतार्थान्, कुर्वीथाः, हि उत्तमानाम्, सम्पदः, आपन्नार्तिप्रशमनफलाः।

श्रुत्वा यांतमिति। तत्र यांतं श्रुत्वा हे नाथ ! तस्मिन् गन्धमादने द्वारिकां प्रतिगच्छन्तमधिगम्य इत्यर्थः। वेदानिकायाः द्रुतमुपगताः पुर्याः शीघ्रं प्राप्ता। दौस्थ्यदीनाः ये अर्थिनः प्रथितयशसं त्वां याचन्ते दारिद्र्यदीनाः हीनाः वा ये याचकसमूहाः विख्यातकीर्ति भवन्तं (नेमिं) प्रार्थयन्ते। तान् समभिलषितार्थ-प्रदानैः त्वं याचकसमूहान् इच्छितार्थदानैः। कृतार्थान् कुर्वीथाः कृतकृत्यान् कुरुष्व। हि उत्तमानां सम्पदः यतः महतां समृद्धयः। आपन्नार्तिप्रशमनफलाः पीडितपीडानिवारण हेतुकाः [आपन्नानाम् आर्तिः आपन्नार्तिः (ष० तत्०) तस्याः प्रशमनम्—आपन्नार्तिप्रशमनम् (ष० तत्०) तदेव फलं यासां ता आपन्नार्तिप्रशमनफलाः (बहुव्री०)] भवन्ति ॥ ५७ ॥

शब्दार्थः — तत्र—उस (गन्धमादन) पर, यांतम्—(द्वारिका को) जाते हुए, श्रुत्वा—सुनकर, वेदानिकायाः—नगर से, द्रुतमुपगताः—शीघ्रता से समीप आकर, दौस्थ्यदीनाः—दरिद्रता के कारण हीन, येऽर्थिनः—जो याचक समूह, प्रथितयशसं त्वाम्—विख्यात यश वाले तुमसे, याचन्ते—याचना करेंगे, तान्—उन (याचकों) को, समभिलषितार्थप्रदानैः—मनोवाञ्छित फल प्रदान कर, कृतार्थान्—कृतकृत्य, कुर्वीथाः—कर देना, हि—क्योंकि, उत्तमा-नाम्—बड़ों की, सम्पदः—सम्पत्तियाँ, आपन्नार्तिप्रशमनफलाः—आपत्ति से पीड़ित जनों की पीड़ा दूर करने वाली (भवन्ति—होती हैं)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः — उस (गन्धमादन) पर; (द्वारिका को) जाते हुए सुनकर नगर से शीघ्र समीप आकर दरिद्रता के कारण हीन याचक समूह विख्यात यश वाले तुम (नेमि) से याचना करेंगे। (तुम) उन याचकों को मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान कर कृतकृत्य कर देना; क्योंकि बड़ों की समृद्धि पीडितों की पीड़ा को दूर करने के लिए (होती है)।

आकर्ण्याद्रिप्रतिरवगुरुं वानरास्त्वत्सकाशे,
क्रोधाताम्रा जनमुखरवं तत्र येऽभिद्रवन्ति।
तान्योधानां विमुखय पुनर्दारुणैर्ज्यानिनादैः,
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५८॥

अन्वयः—तत्र, अद्रिप्रतिरवगुरुम्, जनमुखरवम्, आकर्ण्य, ये वानराः, क्रोधाताम्राः, त्वत्सकाशे, अभिद्रवन्ति, पुनः, तान्, योधानाम्, दारुणैर्ज्यानिनादैः, विमुखय, निष्फलारम्भयत्नाः, के वा परिभवपदम्, न, स्युः।

आकर्ण्याद्रिप्रतिरवगुरुमिति। तत्र अद्रिप्रतिरवगुरुं जनमुखरवं गन्धमादने पर्वतप्रतिध्वनिगम्भीरं जनानां त्वदभिमुखागतानां लोकानां कोलाहलम्, आकर्ण्य श्रुत्वा इत्यर्थः। ये वानराः क्रोधाताम्राः ये कपयः कोपदारुणमुखाः त्वत्सकाशे अभिद्रवन्ति भवत्समीपे आगच्छन्ति। पुनः तान् योधानां दारुणैर्ज्यानिनादैः पश्चात् वानरान् शूराणां प्रत्यञ्चाविस्फारैः, विमुखय पराङ्मुखीकुरु। निष्फलारम्भयत्नाः विफलव्यापारसंलग्नाः [आरम्भेषु यत्नः-आरम्भयत्नः (स० तत्०) निष्फल आरम्भयत्नः येषान्ते निष्फलारम्भयत्नाः (बहुव्री०)]। के वा परिभवपदं न स्युः जन्तवः तिरस्कार-पात्राः [परिभवस्य पदम्—परिभवपदम् (ष० तत्०)] न भवेयुः, सर्वे भवत्येवेति ध्वनिः॥ ५८॥

शब्दार्थः — तत्र—वहाँ (गन्धमादन) पर, अद्रिप्रतिरवगुरुम्—पर्वत की प्रतिध्वनि के कारण गम्भीर, जनमुखरवम्—(तुम्हारे समीप आये हुए) लोगों की कोलाहल को, आकर्ण्य—सुनकर के, ये वानाराः—जो कपि समूह, क्रोधाताम्राः—क्रोध से अरुणमुख होकर; त्वत्सकाशे—तुम्हारे समीप में, अभिद्रवन्ति—आ जाते हैं, आयेंगे, पुनः—फिर, पश्चात्, तान्—उन (वानरों) को, योधानाम्—शूरों की, दारुणैर्ज्यानिनादैः—कठोर प्रत्यञ्चास्फालन के द्वारा, विमुखय—पराङ्मुख कर देना, निष्फलारम्भयत्नाः—व्यर्थ के कार्यों के लिये प्रयत्न करने वाले, के वा—कौन से जन्तु, परिभवपदम्—तिरस्कार के पात्र, न स्युः—नहीं होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः—वहाँ पर पर्वत की प्रतिध्वनि के कारण गम्भीर जन-कोलाहल को सुनकर, कपिसमूह क्रोध से अरुणमुख हो तुम्हारे समीप आयेंगे। पश्चात् तुम उन कपियों को शूरों की कठोर प्रत्यञ्चा स्फालन के द्वारा पराङ्मुख कर देना; व्यर्थ के कार्यों के लिए प्रयत्न करने वाले कौन-से व्यक्ति तिरस्कार के पात्र नहीं होते हैं? (अर्थात् सभी होते हैं)।

तस्मिन्नद्रौ निवसति विभुः स स्वयंभूर्भवाख्यो,
देवः सेवापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्दः।
यद्ध्यानेनापहृतदुरिताः मानवाः पुण्यभाजः,
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥ ५९ ॥

अन्वयः — तस्मिन्, अद्रौ, सेवापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्दः, विभुः स्वयंभूर्भवाख्यः, सः, देवः, निवसति, यद्ध्यानेनापहृतदुरिताः, पुण्यभाजः, श्रद्दधानाः, मानवाः, स्थिरगणपदप्राप्तये, संकल्पन्ते।

तस्मिन्नद्रौ इति। तस्मिन्नद्रौ सेवापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्दः गन्धमादन-पर्वते सेवापर-देवसमूहैर्नमस्करणीयचरणकमलः। विभुः स्वयंभूर्भवाख्यः सर्वव्यापकः स्वयं भवतीति परानुत्पाद्यत्वात्स्वयम्भू ईश्वराभिधो असौ देवः शिवः, निवसति, वसति। यद्ध्यानेनापहृतदुरिताः यस्यमनः स्मरणेनापनीतपापाः सन्तः। पुण्यभाजः श्रद्दधानाः मानवाः पुण्यात्मानः भक्ताः जनाः। स्थिरगणपदप्राप्तये संकल्पन्ते स्थायिप्रमथस्थानलब्धये [गणानां पदं गणपदम् (ष० तत्०) स्थिरञ्च तत् गणपदम्—स्थिरगणपदम् (कर्म०) तस्य प्राप्तिः स्थिरगणपदप्राप्तिः (ष० तत्०) तस्मै] समर्थाः भवन्ति ॥ ५९ ॥

शब्दार्थः — तस्मिन्नद्रौ—उस (गन्धमादन) पर्वत पर, सेवापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्दः—अन्य देवसमूहों से सेवित नमस्करणीय चरणकमल वाले, विभुः—सर्वव्यापक, स्वयंभूर्भवाख्यः—स्वयम्भू नाम से विख्यात, स देवः—वह शिव जी, निवसति—निवास करते हैं, यद्ध्यानेनापहृतदुरिताः—जिसके ध्यान से निष्पाप होकर, पुण्यभाजः—पुण्यात्मा, श्रद्दधानाः मानवाः—भक्त लोग, स्थिरगणपदप्राप्तये—अविनाशी प्रथम-पद की प्राप्ति के लिए, संकल्पन्ते—समर्थ होते हैं।

अर्थः — उस गन्ध-मादन-पर्वत पर अन्य देवों से सेवित नमस्करणीय चरणकमल वाले, सर्वव्यापक, स्वयम्भू नाम से विख्यात, वह शिव जी निवास

५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, जिसके ध्यान से निष्पाप होकर पुण्यात्मा भक्तजन अविनाशी प्रथम-पद की प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं।

नीपामोदोन्मदमधुकरीगुञ्जनं गीतरम्यं,
केका-वेणुक्वणितमधुराबर्हिणां चारुनृत्यम्।
श्रोत्रानन्दी मुरजनिनदस्त्वत्प्रयाणे यदिस्या-
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ ६० ॥

अन्वयः — गीतरम्यम्, नीपामोदोन्मदमधुकरीगुंजनम्, वेणुक्वणितमधुरा, केका, बर्हिणाम्, चारुनृत्यम्, (च) तत्र, त्वत्प्रयाणे, यदि, मुरजनिनदः, श्रोत्रानन्दी, स्यात् (तर्हि) पशुपतेः, संगीतार्थः, समग्रः, भावी, ननु ।

नीपामोदोन्मदेति । गीतरम्यं नीपामोदोन्मदमधुकरीगुंजनं गीतवन्मनोहरं कदम्बपुष्पगन्धैः दृप्तभ्रमरगुञ्जनं दृप्तषड्चरणगुञ्जनं वा । वेणुक्वणितमधुरा केका वांशिकवादितवेणुनिक्वाणवन्मधुरा शुक्लापाङ्गध्वनिः । बर्हिणां चारुनृत्यं तथा शुक्लापाङ्गानां मनोहारिनृत्यञ्च । त्वत्प्रयाणे यदि मुरजनिनदः तत्र भवत्प्रस्थाने चेत् मृदंगध्वनिः मृदंगोत्थध्वनिः वा । श्रोत्रानन्दी श्रोत्राणि आनन्दयीति श्रोत्रानन्दी स्यात् भवेत् । पशुपतेः तर्हि चरणन्याससमीपं शिवस्य (पशूनां पतिः पशुपतिः, ष० तत्०) संगीतार्थः समग्रः संगीतवस्तु (तस्य शिवस्य, संगीतस्य अर्थः संगीतार्थः, ष० तत्०) सम्पूर्णः, भावी ननु भविष्यति खलु ॥ ६० ॥

शब्दार्थः — गीतरम्यम्—गीत के समान मनोहारी, नीपामोदोन्मदमधुकरीगुञ्जनम्—कदम्बपुष्पों की सुगन्धि से उन्मत्त भ्रमरों की गुञ्जार, वेणुक्वणितमधुरा—वेणुविशेष की कर्णप्रियध्वनि (की तरह), केका—मयूर की ध्वनि, बर्हिणाम्—मयूरों का, चारुनृत्यम्—सुन्दर नृत्य, तत्र—उस (गन्ध-मादन-पर्वत) पर, त्वत्प्रयाणे—तुम्हारे जाने (पहुंचने) पर, यदि—अगर, मुरजनिनदः—मृदंगोत्पन्नध्वनि (की तरह), श्रोत्रानन्दी—कर्ण-प्रिय, स्यात्—हो जाय, (तो), पशुपतेः—शिव जी का, संगीतार्थः—संगीत की वस्तु, संगीत, समग्रः—सम्पूर्ण, भावी—हो जाएगा, ननु—निश्चय ही ।

अर्थः — (हे नाथ !) गीत के समान मनोहर कदम्बपुष्पों की सुगन्धि से उन्मत्त भ्रमरों की गुञ्जार, वेणुविशेष की कर्ण प्रियध्वनि की तरह मयूरों की ध्वनि, तथा मयूरों के सुन्दर नृत्य वाले उस (गन्ध-मादन-पर्वत) पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हारा गमन यदि मृदंगोत्पन्न ध्वनि की तरह कर्णप्रिय हो जाय (तो) जिन जी का संगीत, निश्चय ही, सम्पूर्ण हो जायगा।

तस्माद्गच्छन्नथ पथि भवान्वीक्षिता वेणुलाख्यं,
शैलं नीलोपलचयमयाशेषसानुच्छ्रयन्तम् ।
व्याप्याकाशं नवजलभृतां सन्निभो यो विभाति,
श्यामः पादो बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥६१॥

अन्वयः — अथ, तस्माद्, गच्छन्, भवान्, पथि, नीलोपलचयमयाशेष-सानुच्छ्रयन्तम्, वेणुलाख्यम्, शैलम्, वीक्षिता, यः, आकाशम्, व्याप्य, नव जलभृताम्, सन्निभः, बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य, विष्णोः, श्यामः, पाद इव, विभाति।

तस्माद्गच्छन्नथेति। अथ तस्माद्गच्छन् अनन्तरं गन्धमादनाद्गच्छन्। भवान् पथि त्वं नेमिरित्यर्थः मार्गे। 'नीलोपलचयमयाशेषसानुच्छ्रयं' नीलोपला-नीलमणयस्तेषां यश्चयः-संघस्तत्प्रधानानि, नीलोपलचयमयानि यानि अशे-षाणि-समस्तानि सानूनि-प्रस्थानि तेषामुच्छ्रय उदग्रता विद्यते यस्मिन् स तम् इत्यर्थः। वेणुलाख्यं शैलं वीक्षिता द्रक्ष्यसि। योऽऽकाशं व्याप्य, नवजलभृतां सन्निभः नवीनमेघानां सदृशः। बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य बलिनिबन्धोत्सुकस्य [बलेः नियमनम् बलिनियमनम् (ष० तत्०) तस्मिन् अभ्युद्यतः बलिनिय-मनाभ्युद्यतः (ष० तत्०) तस्य]। विष्णोः श्यामः वामनस्य कृष्णः, पाद इव विभाति चरण इव शोभते ॥ ६१ ॥

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, तस्माद्गच्छन्—गन्धमादन पर्वत से जाते हुए, भवान्—आप (नेमि), पथि—मार्ग में, नीलोपलचयमयाशेषसानु-च्छ्रयन्तम्—नीलमणिमयात्यन्तोच्चशिखरों वाले उस, वेणुलाख्यं शैलम्—वेणु नामक पर्वत को, वीक्षिता—देखोगे, यः—जो (पर्वत), आकाशं व्याप्य—आकाश को व्याप्त करके, नवजलभृताम्—नवीन मेघों के, सन्निभः—सदृश, बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्यः बलि को बाँधने के लिए तत्पर, विष्णोः—विष्णु के, वामन के, श्यामः—साँवले, पाद इव—पैर की तरह, विभाति—शोभित होता है।

अर्थः — इसके बाद, वहाँ से जाते हुए तुम (नेमि) मार्ग में नीलमणि-मय अत्यन्त उच्च शिखरों वाले उस वेणु नामक पर्वत को देखोगे, जो आकाश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को व्याप्त करके नवीन मेघों के सदृश बलि को बाँधने के लिए तत्पर वामन के साँवले पैर की तरह शोभित होता है।

तांस्तान्ग्रामांस्तमपि च गिरिं दक्षिणेन व्यतीत्य,
द्रष्टास्यग्रे सितमणिमयं सौधसंघं स्वपुर्याः।
क्रान्त्वा वप्रं वियति विशदैः शोभते योंऽशुजालैः,
राशीभूतः प्रतिदिशमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥ ६२ ॥

अन्वयः — (त्वम्), तम्, गिरिम्, तांस्तान्ग्रामानपि, व्यतीत्य, च, दक्षिणेन, अग्रे, स्वपुर्याः सितमणिमयम्, सौधसंघम्, द्रष्टासि, यः वियति, विशदैः, अंशुजालैः, वप्रम्, क्रान्त्वा प्रतिदिशम्, राशीभूतः, त्र्यम्बकस्य, अट्टहासः, इव, शोभते।

तांस्तान्ग्रामानिति। त्वं तं गिरिं तांस्तान्ग्रामानपि हे नाथ ! त्वं (नेमिः) वेणुलाख्यं शैलम् पूर्वपरिचितान् तान् ग्रामानपि, व्यतीत्य च अतिक्रम्य तथा दक्षिणेन दक्षिणा दिग्विभागे (दक्षिणेनेत्यव्ययं, "एनबन्यतरस्यामदूरे पञ्चम्या" इत्येनप् प्रत्ययः)। अग्रे स्वपुर्याः पुरः निजद्वारिकायाः, सितमणिमयं सौधसंघं स्फटिकमणिनिर्मितं मन्दिरसमूहम्। द्रष्टासि अवलोकितासि। यः वियति विशदैः अंशुजालैः सितमणिमयसौधसंघः आकाशे निर्मलैः किरणसमूहैः। वप्रं क्रान्त्वा प्राकारमुल्लङ्घ्य। प्रतिदिशं दिशे दिशे इति प्रतिदिशम् (अव्ययीभावः)। राशीभूतः त्र्यम्बकस्य पुञ्जीभूतः शिवस्य [त्रीणि अम्बकानि यस्य स त्र्यम्बकः (बहुव्री०) त्रयाणां लोकानाम् अम्बकः (पिता) त्र्यम्बकः; (ष० तत्०) त्रीन् वेदान् अम्बते उच्चार्यते इति त्र्यम्बः त्र्यम्ब एव त्र्यम्बकः स्वार्थे कन् (द्वि० तत्०)] अट्टहास इव शोभते अतिहास इव शोभते राजते वा ॥ ६२ ॥

शब्दार्थः — (त्वम्—तुम), तं गिरिम्—वेणुपर्वत से, तांस्तान्ग्रामानपि—उन-उन (पूर्वपरिचित) ग्रामों को भी, व्यतीत्य—अतिक्रमण करके, च—तथा, दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में, अग्रे—सामने, पहले, स्वपुर्याः—अपनी द्वारिका के, सितमणिमयं सौधसंघम्—स्फटिकमणिनिर्मित भवनसमूह को, द्रष्टासि—देखोगे, यः—जो (भवन समूह), वियति—आकाश में, विशदैः—निर्मल, अंशुजालैः—किरण समूहों द्वारा, वप्रम्—प्राकार को, क्रान्त्वा—लाँघकर के, प्रतिदिशम्—प्रत्येक दिशा में, राशीभूतः—एकत्र हुए, ढेर लगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए, त्र्यम्बकस्य—शङ्कर के, अट्टहासः इव—अट्टहास के समान, शोभते—शोभित होता है।

अर्थः — तुम वेणुपर्वत को तथा उन-उन (पूर्वपरिचित) ग्रामों का भी अतिक्रमण करके (आगे बढ़ने पर) दक्षिण दिशा में पहले अपनी द्वारिका नगरी के स्फटिकमणिनिर्मित भवन-समूह को देखोगे, जो आकाश में निर्मल (स्वच्छ) किरणसमूह से प्राकार को लाँघकर प्रत्येक दिशा में एकत्र हुए शंकर के अट्टहास के समान शोभित है।

टिप्पणी — हास्य का रंग धवल होता है। द्वारिका नगरी भी स्फटिक-मणिमय होने से धवल है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह द्वारिका नगरी अन्य कुछ न होकर प्रत्येक दिशा में शिव जी के अट्टहास का पुञ्ज ही है।

प्रत्यासत्तिं विशदशिखरोत्संगभागे पयोदे,
नीलस्निग्धे क्षणमुपगते पुण्डरीकप्रभस्य।
शोभा काचिद्विलसति मनोहारिणी यस्य संप्र-
त्यंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥ ६३॥

अन्वयः — (हे नाथ !) पुण्डरीकप्रभस्य, विशदशिखरोत्संगभागे, नीलस्निग्धे-पयोदे, क्षणम्, प्रत्यासत्तिम्, उपगते, यस्य, मेचके, वाससि; अंसन्यस्ते, सति, हलभृतः, इव, सम्प्रति, काचिद्, मनोहारिणी, शोभा; विलसति।

प्रत्यासत्तिमिति। पुण्डरीकप्रभस्य विशदशिखरोत्संगभागे हे नाथ! श्वेतकमलवत् धवलशृंगक्रोडैकदेशे। नीलस्निग्धे पयोदे कृष्णरुक्षे-मेघे। क्षणं प्रत्यासत्तिमुपगते मुहूर्तं नैकट्यं प्राप्ते सति। यस्य मेचके वाससि स्फटिकमणि-मयभवनस्य श्यामे वस्त्रे। अंसन्यस्ते सति हलभृत इव अपरित्यक्ते, स्कन्ध-स्थापित इत्यर्थः, बलरामस्येव। सम्प्रति काचिद् मनोहारिणी अधुना अनि-र्वाच्या मनोहरा, शोभा विलसति प्रतिभाति। यथा हलभृतस्तनोरंसन्यस्ते मेचके-कृष्णवर्णे वाससि शोभा काचिद्विलसति, तथैतस्यापीति। बलभद्रोऽपि शुभ्रवर्ण इति प्रसिद्धिः॥ ६३॥

शब्दार्थः — पुण्डरीकप्रभस्य—श्वेतकमलवत्, विशदशिखरोत्संगभागे—(स्फटिक मणिमय भवन समूह के) धवल चोटी की गोद में, नीलस्निग्धे-पयोदे—चिकने नीले मेघ के, क्षणं प्रत्यासत्तिमुपगते—पल भर समीप आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने पर, यस्य—जिस (भवन समूह) की, मेचके—नीले, वाससि—वस्त्र को, अंसन्यस्ते सति—कंधे पर रखने पर, कन्धे पर रखे हुए, हलभृतः—बलराम की, इव—तरह, सम्प्रति—अब, इस समय, काचिद्—अनिर्वचनीय, मनोहारिणी—मनोहारी, शोभा—आभा, विलसति—स्फुरित होता है, प्रतीत होता है।

अर्थः — (हे नाथ !) श्वेतकमलवत् (स्फटिकमणिमय भवन समूह के) धवल चोटी की गोद में नीले मेघ के क्षण भर समीप आ जाने पर जिस भवन समूह की नीले वस्त्र को कन्धे पर रखे हुए बलराम की तरह सम्प्रति अनिर्वचनीय मनोहारी शोभा स्फुरित होती है।

टिप्पणी — बलराम का वर्ण गौर था तथा वे सदा नीला वस्त्र धारण करते थे जिससे लोग निर्निमेष दृष्टि से उनके सौन्दर्य को देखने लगते थे। तद्वत् शोभा स्फटिकमणिमय धवलवर्ण वाले भवनों की उस समय होगी जब श्याम मेघ उसकी चोटी के पास आयेगा।

प्राप्योद्यानं पुरपरिसरे केलिशैले यदूनां,
विश्रामार्थं क्षणमभिरतिं गोमतीवारि पश्यन् ।
उत्सर्पद्भिर्दधदिव दिवो वर्त्मनो वीचिसंघैः,
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ ६४ ॥

अन्वयः — पुरपरिसरे, केलिशैले, यदूनाम्, उद्यानम्, प्राप्य, अग्रयायी, उत्सर्पद्भिः, वीचिसंघैः, दिवः, वर्त्मनः, मणितटारोहणाय, सोपानत्वम्, दधत् इव, गोमतीवारि, पश्यन्, विश्रामार्थम्, क्षणम्, अभिरतिम्, कुरु।

प्राप्योद्यानमिति। पुरपरिसरे केलिशैले हे नाथ ! पुरसमीपे प्रदेशे वा क्रीडापर्वते। यदूनामुद्यानं प्राप्य यदूनामारामम् आसाद्य। अग्रयायी अग्रेसरः, उत्सर्पद्भिः वीचिसंघैः ऊर्ध्वं प्रसरद्भिः कल्लोलराजिभिः। दिवो वर्त्मनः मणि॰तटारोहणाय नभो मार्गस्य रत्न-तटाऽऽरोहणाय [मणीनां तटम्–मणितटम् (ष॰ तत्॰) मणितटे आरोहणं मणितटारोहणम् (ष॰ तत्॰, तस्मै)]। सोपानत्वं दधदिव शृंखलाभावं बिभ्रदिव। गोमतीवारि पश्यनवलोकयन्। विश्रामार्थं क्षणम् अभिरतिं खेदापनयनार्थं तत्र मुहूर्तम् अवस्थानम्, कुरु विधेहि ॥ ६४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ: — पुरपरिसरे—नगर (द्वारिका) के समीप, केलिशैले — क्रीड़ापर्वत पर, यदूनाम्—यदुओं की, उद्यानम्—उद्यान (बगीचा) को, प्राप्य—प्राप्त करके, अग्रयायी—आगे-आगे चलते हुये, उत्सर्पद्भिः वीचि-संघैः—ऊपर को चलती हुई धारा समूहों के द्वारा, दिवः वर्त्मनः—आकाश मार्ग में, मणितटारोहणाय—मणितट पर चढ़ने के लिए, सोपानत्वम्—सीढ़ी के रूप में परिणत, दधत् इव—धारण करते हुए की तरह, गोमतीवारि—गोमती नदी के जल को, पश्यन्—देखते हुए, विश्रामार्थम्—विश्राम के लिए (मार्गजनित श्रम को दूर करने के लिए), क्षणम्—क्षण भर, अभिरतिं कुरु—रुक जाना।

अर्थ: — नगर के समीप केलि पर्वत पर यदुओं की उद्यान को प्राप्त करके आगे-आगे ऊपर को चलती हुई धारा समूहों के द्वारा आकाश-मार्ग में मणि-तट पर चढ़ने के लिए सीढ़ी का काम करती हुई गोमती नदी की जल को देखते हुए, विश्राम के लिए क्षण भर रुक जाना।

टिप्पणी — अग्रयायी—अग्र + √या + णिनिः + विभक्तिः।

तत्रासीनो मुररिपुयशो निश्चलः किन्नरीभिः,
शृण्वंस्तिष्ठेः श्रुतिसुखकरं गीयमानं मुहूर्तम्।
शब्दैरश्मस्खलितरथजैर्मेदुरैरम्बुराशेः,
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥ ६५ ॥

अन्वयः —तत्र, आसीनः, किन्नरीभिः, गीयमानम्, श्रुतिसुखकरम्, मुररि-पुयशः शृण्वन्, मुहूर्तम्, निश्चलः, तिष्ठेः, (तथा), अश्मस्खलितरथजैः, अम्बुराशेः, मेदुरैः, शब्दैः, श्रवणपरुषैः, गर्जितैः क्रीडालोलाः, ताः न, भाययेः।

तत्रासीनरिति। तत्रासीनः किन्नरीभिः गीयमानं हे नाथ! त्वं तस्मिन् केलिपर्वते उपविष्टः सन् किन्नरकामनीभिः स्तुत्यमानम्। श्रुतिसुखकरं मुररि-पुयशः शृण्वन् श्रोत्रानुकूलं कर्णप्रियं वा विष्णुकीर्ति श्रवणविषयी कुर्वन्। मुहूर्तं निश्चलः तिष्ठेः क्षणं गतिनिरोधं कुर्याः। अश्मस्खलितरथजैः-अम्बुराशेर्मे-दुरैर्शब्दैः तथा पाषाणसंघट्टरथोत्पन्नैर्जलधेर्पुष्टैर्ध्वनिभिः। श्रवणपरुषैर्गर्जितैः क्रीडालोलाः ताः कर्णकटुभिर्स्तनितैः [श्रवणयोः परुषाणि—श्रवणपरुषाणि (स० तत्०)] केलिचपलाः चञ्चलाः वा [क्रीडायां लोलाः—क्रीडालोलाः (स० तत्०)] किन्नर्यः। न भाययेः मा त्रासयेः ॥ ६५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थः — तत्र—उस क्रीड़ा पर्वत पर, आसीनः—बैठी हुई, विद्यमान, किन्नरीभिः—किन्नर स्त्रियों के द्वारा, गीयमानम्—गाये जाते हुए, श्रुतिसुखकरम्—कर्णसुखद, मुररिपुयशः—विष्णु की कीर्ति को शृण्वन्—सुनते हुए, मुहूर्तम्—क्षण भर, निश्चलस्तिष्ठेः—रुक जाना, तथा, अश्मस्खलितरथजैः—शिलातल पर घर्षण होने से रथ से उत्पन्न, अम्बुराशेः (इव)—समुद्र की तरह, मेदुरैः—पुष्ट, गम्भीर, शब्दैः—ध्वनि के द्वारा, श्रवणपरुषैः—कर्णकठोर, गर्जितैः—गर्जनों से, क्रीडालोलास्ताः—क्रीड़ा में आसक्त उनको, न—नहीं, भाययेः—भयभीत कर देना ।

अर्थ: — उस (क्रीडापर्वत) पर आसीन किन्नर स्त्रियों द्वारा गाये जाते हुए कर्णप्रिय विष्णु की कीर्ति को सुनते हुए क्षण भर रुक जाना तथा पाषाण पर चलने से रथ से उत्पन्न समुद्र की पुष्ट ध्वनि की तरह कर्णकटु गर्जनों से क्रीड़ा में आसक्त उन (किन्नरियों) को भयभीत नहीं कर देना ।

टिप्पणी — भयार्थक णिजन्त √ भायि + लिङ् लकार + मध्यम-पुरुष एकवचन । तत्र—यह अव्यय है 'तद्' शब्द से 'सप्तम्यास्त्रल्', इस सूत्र से 'त्रल्' प्रत्यय किया जाता है ।

सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितं प्रोन्मिषत्केतकीकं,
हृद्यं जातिप्रसवरजसा स्वादमत्तालिनादैः ।
नृत्यत्केकामुखरशिखिनं भूषितोपान्तभूमिं,
नानाचेष्टैर्जलदललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः — सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितम्, प्रोन्मिषत्केतकीकम्, जातिप्रसवरजसा, स्वादमत्तालिनादैः, हृद्यम्, नृत्यत्केकामुखरशिखिनम्, नानाचेष्टैर्जलदललितैः, भूषितोपान्तभूमिम्, तम्, नगेन्द्रम्, निर्विशेः ।

सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितमिति । सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितं प्रोन्मिषत्केतकीकं हे नाथ ! त्वं स्निग्धप्रफुल्लार्जुनपुष्पसुरभिसुगन्धितं विकसत्केतकीपुष्पम् । जातिप्रसवरजसा स्वादमत्तालिनादैः हृद्यं जातिपुष्पपरागास्वादोन्मत्तभ्रमरध्वनिभिः मनोज्ञम् । नृत्यत्केकामुखरशिखिनं नृत्यन्तः केकामुखराः—बर्हिध्वनिवाचालाः शिखिनः—शुक्लापाङ्गाः यत्र तम् इत्यर्थः । नानाचेष्टैर्जलदललितैः अनेकक्रीडितैर्मेघविलासैः । भूषितोपान्तभूमि-भूषिता-अलंकृता उपान्तभूमिः पर्यन्तावनिः यस्य तम् । तं नगेन्द्रं निर्विशेः पूर्वोक्तं केलिशैलम् उपभुङ्क्ष्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(निर्विशेः-निर् + √ विश् + विधि लिङ् मध्यपुरुष एकवचन) ।। ६६ ।।

शब्दार्थः — सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितम्—खिले हुए स्निग्ध अर्जुन पुष्प के सुगन्धि से सुगन्धित, प्रोन्मिषत्केतकीकम्—खिले हुए केतकी पुष्पों से, जातिप्रसवरजसा—जाति पुष्प विशेष की पराग से, स्वादमत्तालिनादैः—आस्वादनोन्मत्त भ्रमरों की गुञ्जन ध्वनि के द्वारा, हृद्यम्—मनोहर, नृत्यत्केकामुखरशिखिनम्—नृत्य करते हुए मयूरों की वाचाल ध्वनि से, नानाचेष्टैर्जलदललितैः—अनेक तरह की चेष्टाओं से युक्त मेघ की क्रीड़ाओं से, भूषितोपान्तभूमिम्—पृथिवीपर्यन्त अलंकृत, तम्—उस; नगेन्द्रम्—केलि-पर्वत का, निर्विशेः—आनन्द लेना ।

अर्थः — खिले हुए स्निग्ध अर्जुन-पुष्पविशेष की सुगन्धि से सुगन्धित, खिले हुए केतकी पुष्पों से, जाति पुष्प-विशेष के पराग का आस्वादन कर उन्मत्त भ्रमरों की गुञ्जार से मनोहर, नृत्य करते हुए वाचाल मयूरों से तथा अनेक तरह की चेष्टाओं से युक्त मेघ की क्रीड़ाओं से पृथ्वीपर्यन्त अलंकृत उस केलि-पर्वत का (तुम) आनन्द लेना ।

तस्या हर्षादविकृतमहास्ते प्रवेशाय पुर्या,
निर्यास्यन्ति प्रवरयदवः सम्मुखाः शौरिमुख्याः ।
या कालेस्मिन्भवनशिखरैः प्रक्षरद्वारि धत्ते,
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।। ६७ ।।

अन्वयः — ते, प्रवेशाय, तस्याः, पुर्याः, हर्षादविकृतमहाः, शौरिमुख्याः, प्रवरयदवः, सम्मुखाः, निर्यास्यन्ति, या, अस्मिन् काले, भवनशिखरैः, प्रक्षरद्वारि, अभ्रवृन्दम्, कामिनी, मुक्ताजालग्रथितम्, अलकम्, इव, धत्ते ।

तस्या हर्षादिति । ते प्रवेशाय हे नाथ ! तव प्रवेशार्थम् । तस्याः पुर्याः हर्षादविकृतमहाः शौरिमुख्याः प्रवरयदवः द्वारिकायाः पुरः प्रमोदात्विकाररहितोत्सवाः केशवप्रमुखाः यदुकुलोत्पन्नश्रेष्ठयदवः । सम्मुखाः निर्यास्यन्ति अभिमुखाः द्वारिकायाः बहिरागमिष्यन्ति इति भावः । या अस्मिन्काले या द्वारिका वर्षासमये । भवनशिखरैः प्रक्षरद्वारि गृहाग्रैः गृहशृङ्गैः वा गलद्वारि जलोत्सर्जनं वा । अभ्रवृन्दं कामिनी मुक्ताजालग्रथित मेघनिचयं वनिता मौक्तिकप्रचुरैर्गुम्फितम् [मुक्तानां जालम्—मुक्ताजालम् (ष० तत्०)] । अलकमिव धत्ते केशपाशमिव धारयति ।। ६७ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ: — ते—तुम्हारे, प्रवेशाय—प्रवेश के लिए, तस्या: पुर्या:—उस (द्वारिका) पुरी से, हर्षादविकृतमहा:—हर्ष के कारण विकार रहित महाप्रतापी, शौरिमुख्या:—केशव प्रमुख, प्रवरयदव:—श्रेष्ठ यादव, सम्मुखा:—(तुम्हारे) सामने, निर्यास्यन्ति—आएँगे, या—जो द्वारिका, अस्मिन्काले—वर्षा के समय में, भवनशिखरै:—भवनशिखरों द्वारा, प्रक्षरद्वारि—जल को छोड़ने वाले, बरसाने वाले, अभ्रवृन्दम्—मेघ समूह को, कामिनी—सुन्दरी स्त्री, मुक्ताजालग्रथितम्—मोती की लड़ियों से गूँथे गये, अलकम्—केश-कलाप को, इव—तरह, धत्ते—धारण करती है।

अर्थ: — द्वारिका में तुम्हारे प्रवेश के लिए उस (द्वारिका) पुरी से हर्ष के कारण विकाररहित महाप्रतापी कृष्णप्रमुख श्रेष्ठ यादव (तुम्हारे) सम्मुख आयेंगे, जो द्वारिका नगरी इस वर्षाकाल में, भवनशिखरों से, जल बरसाने वाले मेघ-समूह को उसी तरह धारण करता है, जैसे कोई सुन्दरी स्त्री मोती की लड़ियों से गूँथे गये केश-कलाप को धारण करती है।

शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसं प्रोल्लसद्रत्नदीपा,
मानप्रांशुं शिखरनिवहैर्व्योममार्गं स्पृशन्तः।
गौरज्योत्स्नाविमलयशसं शुभ्रभासः सुधाभिः,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥६८॥

अन्वय: — यत्र, प्रोल्लसद्रत्नदीपा:, शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसम्, मानप्रांशुम्, शिखरनिवहै:, व्योममार्गम्, स्पृशन्त:, गौरज्योत्स्नाविमलयशसम्, सुधाभि:, शुभ्रभास:, प्रासादा: तै:, तै:, विशेषै:, त्वाम्, तुलयितुम्, अलम्।

शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसमिति। यत्र प्रोल्लसद्रत्नदीपा शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसं हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायां प्रभाभिर्भास्वन्मणिप्रदीपा: निरन्तरस्निग्धनिजशरीरतेजम्। मानप्रांशुं शिखरनिवहै: व्योममार्गं उच्चैस्तरमत्युन्नतं वा भवनाग्रसमूहै: सर्वै: वा आकशपथम्, स्पृशन्त: आश्लिष्यन्त: वा। गौरज्योत्स्ना विमलयशसं सुधाभि: शुभ्रभास: शुभ्रकौमुदीवन्निर्मलयशसं लेपैश्वेतकान्तय:। प्रासादा:—गृहाणि मन्दिराणि वा, तैस्तैर्विशेषै: पूर्वोक्तप्रकारै: धर्मै:। त्वाम् भवन्तं नेमिम् इत्यर्थ: तुलयितुमलम् समानताङ्कर्तुं पर्याप्ता:॥ ६८॥

शब्दार्थ: — यत्र—जिस द्वारिका में, प्रोल्लसद्रत्नदीपा:—चमकते हुए रत्नदीपों से, शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसम्—निरन्तर स्निग्ध अपने शरीर तेज से,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानप्रांशुम् —अत्यन्त ऊँचे, शिखरनिवहैः—गृह के अग्रभागों से, व्योममार्गम्—आकाश मार्ग को, स्पृशन्तः—स्पर्श करता हुआ, छूता हुआ, गौरज्योत्स्ना-विमलयशसम्—शुभ्र कौमुदी के समान विमल यश का, सुधाभिः—लेप से, शुभ्रभासः—श्वेतकान्ति वाला, प्रासादाः—भवन-समूह, तैस्तैर्विशेषैः—पूर्वोक्त उन-उन विशेषताओं से, त्वाम्—तुमसे, तुलयितुम्—समानता करने में, अलम्—समर्थ हैं।

अर्थः — (हे नाथ !) जिस (द्वारिका) में चमकते हुए रत्नदीपों से निरन्तर स्निग्ध अपने शरीर-तेज से अत्यन्त ऊँचे गृहों के अग्रभागों से आकाश-मार्ग का स्पर्श करता हुआ शुभ्रकौमुदी के समान विमलयश के लेप से श्वेत-कान्ति वाला भवन समूह (पूर्वोक्त) उन-उन विशेषताओं के द्वारा तुम (नेमि) से तुलना करने में समर्थ है।

यामुद्दामाखिलसुररिपून्माथिनो दानवारेः,
साहाय्याय प्रथितमहसोऽध्यासते योधवर्गः ।
नानादैत्यप्रहरणभवैः संगरेषु स्वकीर्त्या,
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥ ६९ ॥

अन्वयः — याम्, उद्दामाखिलसुररिपून्, माथिनः, दानवारेः, साहाय्याय प्रथितमहसः, योधवर्गः, अध्यासते, संगरेषु, नानादैत्यप्रहरणभवैः, चन्द्रहास-व्रणाङ्कैः, आभरणरुचयः, स्वकीर्त्या, प्रत्यादिष्टाः ।

यामुद्दामखिलेति । यामुद्दामखिलसुररिपून्माथिनः हे नाथ ! द्वारिका-मुन्मत्तसकलदेवशत्रुसंहारकः । दानवारेः साहाय्याय प्रथितमहसः कृष्णस्य साहाय्यार्थं प्रख्याततेजसः । योधवर्गः अध्यासते शूरसमूहः अधितिष्ठति । संगरेषु नानादैत्यप्रहरणभवैः युद्धेषु ये विविधासुरप्रतिघातोत्पन्नैः । चन्द्रहास-व्रणाङ्कैः आभरणरुचयः असिकिणाङ्कैः आभरणानां रुक्-कान्तिर्यैस्ते । स्व-कीर्त्या प्रत्यादिष्टा स्वयशसा सूचयन्ति ॥ ६९ ॥

शब्दार्थः — याम्—द्वारिका में, उद्दामाखिलसुररिपून्माथिनः—मदमत्त समस्त देव शत्रुओं को मथने वाले, दानवारेः—कृष्ण की, साहाय्याय—सहायता के लिए, प्रथितमहसः—विख्यात तेज वाले, योधवर्गः—योद्धा-गण, अध्यासते—रहते हैं, (जो) संगरेषु—रण में, नानादैत्यप्रहरणभवैः—अनेक प्रकार के दैत्यों के प्रहार से उत्पन्न, चन्द्रहासव्रणाङ्कैः—तलवार के घाव से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्त चिह्न के द्वारा, आभरणरुचयः—आभूषण की कान्ति की तरह, स्वकीर्त्या—अपनी कीर्ति को, यश को, प्रत्यादिष्टाः—सूचित करते हैं।

अर्थ: — द्वारिका में, मदमत्त समस्त देव शत्रुओं का संहार (नाश) करने वाले कृष्ण की सहायता के लिए विख्यात तेज वाले योद्धागण रहते हैं; (जो योद्धागण) युद्ध में अनेक प्रकार के असुरों के प्रहार से उत्पन्न तलवार के घाव से युक्त चिह्न से आभूषण की तरह अपनी कीर्ति (यश) को सूचित करते हैं।

व्याधिर्देहान्स्पृशति न भयाद्रक्षितुः शाङ्‌र्गपाणे-
र्मृत्योर्वार्ता श्रवणपथगा कुत्रचिद्वासभाजाम् ।
कामक्रीडारससुखजुषां यच्छतामर्थिकामा-
न्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ ७० ॥

अन्वयः — यत्र, रक्षितुः, शाङ्‌र्गपाणेः, भयाद्, व्याधिः, देहान्, न, स्पृशति, वासभाजाम्, कुत्रचित्, मृत्योर्वार्ताः, श्रवणपथगा, अर्थिकामान्, यच्छताम्, कामक्रीडारससुखजुषाम्, वित्तेशानाम्, यौवनात्, अन्यत्, वयः, न, अस्ति, खलु ।

व्याधिर्देहान् इति । यत्र रक्षितुः शाङ्‌र्गपाणेः हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायां लोकरक्षकस्य हरेः भयाद् । व्याधिर्देहान् न पीडाशरीरान् मा स्पृशति । वासभाजां वासं-द्वारिकानिवासं भजन्ति इति वासभाजः तेषां, द्वारिकानिवासिनाम्, कुत्रचित् पुरातनकथाप्रबन्धादिश्रवणे । मृत्योर्वार्ता श्रवणपथगा मरणस्यकथा श्रवणग्राह्या वर्तते इति भावः । अर्थिकामान् यच्छतां याचकमनोरथान् पूरयताम् । कामक्रीडारससुखजुषां वित्तेशानां तथा प्रणयकेलिरससुखयुक्तां वित्ताधिपानाम् (वित्तानाम् ईशः-वित्तेशः, ष० तत्०) । यौवनादन्यत् वयः तारुण्यादपरम् अवस्था नास्ति खलु न वर्तते निश्चयेन ॥ ७० ॥

शब्दार्थः — यत्र—जिस द्वारिका में, रक्षितुः—लोगों के रक्षक, शाङ्‌र्गपाणेः—कृष्ण के, भयाद्—भय से, डर से, व्याधिः—रोग, देहान्—शरीर को, न—नहीं, स्पृशति—छूता है, वासभाजाम्—द्वारिका नगर निवासी, कुत्रचित्—पुराणादि कथा प्रसङ्गों में ही, मृत्योर्वार्ता—मरण की कथा, श्रवणपथगा—सुनते हैं, अर्थिकामान्—याचकों के सभी मनोरथों की, यच्छताम्—पूर्ति होती है, (तथा) कामक्रीडारससुखजुषाम्—प्रणयक्रीड़ा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसक्त, संलग्न, वित्तेशानाम्—धनिकों की, यौवनात्—यौवन के अतिरिक्त, अन्यत्—दूसरी, वयः—अवस्था, न—नहीं, अस्ति—होती है, खलु—यह निश्चय का सूचक अव्यय है।

अर्थ: — जिस द्वारिका में लोगों के रक्षक कृष्ण के भय से रोग शरीर का स्पर्श नहीं करता, द्वारिकानगरनिवासी पुराणादि कथा प्रसङ्गों में ही मृत्यु की वार्ता का श्रवण करते, याचकों के सभी मनोरथों की पूर्ति होती (तथा) प्रणयलीला में आसक्त धनिकों की यौवन के अतिरिक्त दूसरी अवस्था भी नहीं होती है।

कर्णे जातिप्रसवममलं केतकं केशपाशे,
कस्तूरीभिः कृतविरचनागल्लयोः पत्रवल्ली।
कण्ठे माला ग्रथितकुटजा मण्डनं भावि काम्यं,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः — यत्र, वधूनाम्, कर्णे, अमलम्, जातिप्रसवम्, केशपाशे, केतकम्, गल्लयोः, कस्तूरीभिः, कृतविरचना, पत्रावल्ली, कण्ठे, ग्रथितकुटजा, माला, सीमन्ते, च, त्वदुपगमजम्, नीपम्, काम्यम्, मण्डनम्, भावि।

कर्णे जातिप्रसवममलमिति। यत्र वधूनां कर्णे हे नाथ! यस्यां द्वारिकायां वनितानां श्रोत्रे, अमलं जातिप्रसवं निर्मलं जातिपुष्पविशेषम्। केशपाशे केतकं चूडापाशे केशजालके वा केतकीपुष्पम्। गल्लयोः कस्तूरीभिः कपोलयोः गण्डयोः वा कस्तूरीभिः, कृतविरचना विहितमकर्यादिरूपरचना, पत्रावल्ली पत्रलता। कण्ठे ग्रथितकुटजा माला मेचके ग्रथितानि कुटजपुष्पाणि यस्यां तथाविधामालास्रक्। सीमन्ते च केशवेशे च, त्वदुपगमज नीपं नेमिरागमनजन्यं कदम्बम्। काम्यं मण्डनं भावि मनोज्ञं प्रसाधनं भविष्यति ॥ ७१ ॥

शब्दार्थः — यत्र—जिस द्वारिका नगरी में, वधूनाम्—वधुओं के, वनिताओं के, कर्णे—कान में, अमलं जातिप्रसवम्—स्वच्छ जाति पुष्प, केशपाशे—वेणियों में, केतकम्—केतकी पुष्प, गल्लयोः—कपोलों पर, कस्तूरीभिः—कस्तूरी के द्वारा, कृतविरचना—किये गये रूपरचना युक्त, पत्रवल्ली—पत्रलता, कण्ठे—गले में, ग्रथितकुटजा—गुंथे हुए कुटजपुष्पों की, माला—हार, सीमन्ते—माँग में, त्वदुपगमजम्—तुम्हारे (नेमि) आगमन से उत्पन्न, नीपम्—कदम्बपुष्प, काम्यम्—मनोहर, मण्डनम्—प्रसाधन, भावि—होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः — जिस द्वारिका में वनिताओं के कान में स्वच्छ जातिपुष्प, वेणियों में केतकी पुष्प, कपोलों में कस्तूरी से किये गये रूपरचना युक्त पत्र-लता, गले में कुटजपुष्पों की माला (हार) तथा माँग में तुम्हारे आगमन से उत्पन्न कदम्ब पुष्प मनोज्ञ प्रसाधन होगा।

यस्यां रम्यं युवजनमनोहारिवारांगनानां,
लास्यं तालानुगतकरणं भास्यति त्वत्प्रवेशे।
वाञ्छन्तीनां तदवगमनानन्दभाजां प्रसादं,
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ७२ ॥

अन्वयः — यस्याम्, त्वत् प्रवेशे, गम्भीरध्वनिषु, पुष्करेषु, शनकैः, आहतेषु, तदवगमनानन्दभाजाम्, त्वत्प्रसादम्, वाञ्छन्तीनाम्, वारांगनानाम्, युवजन-मनोहारि, तालानुगतकरणम्, रम्यम्, लास्यम्, भास्यति।

यस्यामिति। यस्यां त्वत् हे नाथ! द्वारिकायां भवतः (नेमेः) प्रवेशे। गम्भीरध्वनिषु पुष्करेषु गम्भीरस्तनितेषु वाद्यपात्रमुखेषु। शनकैराहतेषु मन्दं-सुताडितेषु (सत्सु)। तदवगमनानन्दभाजां लास्यस्य ज्ञानं तेन प्रमोदं भज-न्तीति तदवगमनानन्दभाजस्तासाम्। त्वत्प्रसादम् नेमेरनुनयम्। वाञ्छन्तीनां वारांगनानाम् इच्छन्तीनां पण्याङ्गनानां वारवनितानां वा। युवजनमनोहारि तरुणलोकमनोहारि (युवजनानां मनांसि हरतीति युवजनमनोहारि)। ताला-नुगतकरणं तालश्चञ्चपुटादिस्तेनानुगतं-सम्बद्धं करणं गतिभेदः अंगहार भेदः वा, स्थिरहस्तपर्यस्ततारकादिर्द्वात्रिंशत्प्रकारो यस्मिन्तत्तथा। रम्यं लास्यं भास्यति मनोज्ञं नृत्यं शोभिष्यते ॥ ७२ ॥

शब्दार्थः — यस्याम्—जिस द्वारिका में, त्वत्प्रवेशे—नेमि के प्रवेश (करने) पर, गम्भीरध्वनिषु—गम्भीर ध्वनि वाले, पुष्करेषु—मृदङ्गों पर, शनकैः—धीरे-धीरे, आहतेषु—थपकी लगाये जाने पर, तदवगमनानन्दभा जाम्—लास्यादि के सम्यक् ज्ञान से आनन्दित करने वाली, त्वत्प्रसादम्—नेमि की प्रसन्नता की, वाञ्छन्तीनाम्—आकांक्षा करती हुई, वारांगनानाम्—वाराङ्गनाओं (वेश्याओं) का, युवजनमनोहारि—तरुण जनों के मन को हरने वाली, तालानुगतकरणम्—तालादिगत गीत भेद से युक्त, रम्यम्—मनोज्ञ, लास्यम्—नृत्य, भास्यति—शोभित होगा।

अर्थः — जिस द्वारिका में तुम्हारे प्रवेश पर गम्भीर ध्वनि वाले मृदङ्गों पर धीरे-धीरे थपकी लगाये जाने पर लास्यादि के सम्यक् ज्ञान से आनन्दित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाली तुम्हारी प्रसन्नता की आकांक्षा करती हुई वाराङ्गनाओं का तरुणजनों के मन को हरने वाली तालादिगत गीत भेद से युक्त मनोज्ञ नृत्य शोभित होगा।

संसक्तानां नवरतरसे कामिभिः कुट्टिमानां,
पृष्ठेष्वंतः कृतविरचना घर्म्मवार्यङ्गनानाम् ।
यस्यां ग्रीष्मे शिशिरकिरणस्यांशुभिर्यामिनीषु,
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यंदिनश्चन्द्रकान्ताः ॥७३॥

अन्वयः — यस्याम्, ग्रीष्मेषु, यामिनीषु, शिशिरकिरणस्यांशुभिः, स्फुटजललवस्यंदिनः, कुट्टिमानाम्, अन्तःपृष्ठेषु, कृतविरचना, चन्द्रकान्ताः, कामिभिः, नवरतरसे, संसक्तानाम्, अङ्गनानाम्, धर्मवारि, व्यालुम्पन्ति।

संसक्तानामिति। यस्यां ग्रीष्मेषु यामिनीषु हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायां उष्णेषु निचसु। शिशिरकिरणस्यांशुभिः स्फुटजललवस्यंदिनः इन्दोः ज्योत्स्नाभिः व्यक्ततोयकणस्राविणः [स्फुटजललवस्यंदिनः-जलस्य लवाः-जललवाः (ष० तत्०) स्फुटाश्च ते जललवाः-स्फुटजललवाः (कर्म०) तान् स्यन्दन्ते तच्छीलाः इति स्फुटजललवस्यंदिनः (उपपद)। कुट्टिमानां शिलानिर्मितानां शिलादिबद्धभूमीनां वा, अन्तःपृष्ठेषु मध्यभागेषु। कृतविरचना चन्द्रकान्ताः विहितरचना चन्द्रकान्तमणयः। कामिभिः नवरतरसे संसक्तानामङ्गनानां कामुकैः नवसम्भोगरसे आसक्तानां वनितानां कामिनीनां वा। घर्मवारि व्यालुम्पन्ति स्वेदजलं दूरीकुर्वन्ति (व्यालुम्पन्ति — वि + आ + √लुप् + झि + विभक्तिकार्यम्) ॥ ७३ ॥

शब्दार्थः — यस्याम्—जिस द्वारिका में, ग्रीष्मेषु—ग्रीष्म की, यामिनीषु—रात्रि में, शिशिरकिरणस्यांशुभिः—चन्द्र किरणों के द्वारा, स्फुटजललवस्यंदिनः—स्वच्छ जल-बिन्दुओं को टपकाने वाली, कुट्टिमानाम्—पाषाण से निर्मित भूमि के, अन्तः—मध्य, बीच, पृष्ठेषु—भाग में, कृतविरचना—खचित, चन्द्रकान्ताः—चन्द्रकान्तमणियाँ, कामिभिः—कामुकों से, नवरतरसे—नवीन सम्भोगरस (क्रीड़ा) में, संसक्तानाम्—संलग्न, आसक्त अङ्गनानाम्—वनिताओं के, घर्मवारि—स्वेदकण को, पसीना को, व्यालुम्पन्ति—दूर करती हैं।

अर्थः — जिस द्वारिका में ग्रीष्म काल की रात्रि में चन्द्रकिरणों से स्वच्छ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जल-बिन्दुओं को टपकाने वाली, पाषाण निर्मित भूमि के मध्य भाग में खचित, चन्द्रकान्तमणियां कामुकों से नवीनसम्भोगक्रीड़ा में आसक्त अङ्गनाओं के स्वेदबिन्दु को दूर करती हैं।

गत्वा यूनां रजनिसमये धूप्यमानेषु लीला-
वेश्मस्वन्तर्युवतिनिहितै रत्नदीपैर्निरस्ताः ।
जालैर्यत्रावतमसचयाः साध्वसेनेव भूयो,
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ७४ ॥

अन्वयः — यत्र, रजनिसमये, अवतमसचयाः, यूनाम्, धूप्यमानेषु, लीलावेश्मसु, गत्वा, भूयः, अन्तः, युवतिनिहितैः, रत्नदीपैर्निरस्ताः, साध्वसेनेव, धूमोद्गाराऽनुकृतिनिपुणाः, जर्जराः, जालैः, निष्पतन्ति ।

गत्वा यूनामिति । यत्र रजनिसमये अवतमसचयाः हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायां निशाकाले अन्धकारसमूहाः । यूनां धूप्यमानेषु लीलावेश्मसु तरुणानां गवाक्षेषु केलिगृहेषु सदनेसु वा गत्वा लब्धा, भूयः अन्तःयुवतिनिहितैः पुनः वासगृहमध्ये तरुणिन्यस्तैः । रत्नदीपैर्निरस्ताः मणिप्रदीपैरपाकृताः दूरीकृताः वा । साध्वसेनेव धूमोद्गाराऽनुकृतिनिपुणाः भयेनेव धूमनिगमानुकरणदक्षाः [धूमस्य उद्गारः-धूमोद्गारः (ष० तत्०) तस्य अनुकृतिः— धूमोद्गाराऽनुकृतिः (ष० तत्०) तस्यां निपुणाः—धूमोद्गाराऽनुकृतिनिपुणाः, (स० तत्०)] । जर्जराः जालैः निष्पतन्ति शीर्णाः (सन्तः) गवाक्षैः निर्गच्छन्ति ॥ ७४ ॥

शब्दार्थः — यत्र—जिस द्वारिका में, रजनिसमये—रात्रि के समय, अवतमसचयाः—अन्धकार समूह, यूनाम्—युवजनों के, धूप्यमानेषु—झरोखों वाले, लीलावेश्मसु—क्रीड़ागृहों में, गत्वा—जाकर, भूयः—फिर, अन्तः—वासगृह में, केलिगृह में, युवतिनिहितैः— वनिताओं द्वारा रखे गये, रत्नदीपैर्निरस्ताः— मणिदीपों से दूर किया गया, साध्वसेनेव—भयभीत की तरह, धूमोद्गाराऽनुकृतिनिपुणाः—धूआं निकलने (उगलने) की नकल करने में निपुण, जर्जराः (सन्तः)—टुकड़े-टुकड़े होकर, जालैः—झरोखों से, निष्पतन्ति—निकल जाते हैं, भाग जाते हैं।

अर्थः — जिस द्वारिका में रात्रि के समय अन्धकार समूह युवाओं के झरोखा युक्त क्रीड़ागृहों में जाकर पुनः वासगृह में वनिताओं द्वारा रखे गये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणिदीपों से दूर किया गया (अन्धकार समूह) भयभीत की तरह, धूआँ निकलने की नकल करने में निपुण (अतः) टुकड़े-टुकड़े होकर झरोखों से निकल जाते हैं।

रात्रौ यस्यामुपसखिभृशं गात्रसंकोचभाजां,
रागेणान्धैः शयनभवनेषूल्लसद्दीपवत्सु ।
प्रेम्णा कान्तैरभिकुचयुगं हृद्यगन्धिर्वधूनाम्,
ह्रीमूढानां भवति विफलः प्रेरितश्चूर्णमुष्टिः ॥७५॥

अन्वयः— यस्याम्, उल्लसद्दीपवत्सु, शयनभवनेषु, रात्रौ, उपसखि-भृशम्, गात्रसंकोचभाजाम्, ह्रीमूढानाम्, वधूनाम्, अभिकुचयुगम् रागेणान्धैः, कान्तैः, प्रेम्णा, प्रेरितः, हृद्यगन्धिः, चूर्णमुष्टिः, विफलः, भवति।

रात्रौ यस्यामिति। यस्याम् उल्लसद्दीपवत्सु शयनभवनेषु हे नाथ! द्वारिकायां उल्लसन्तः प्रभाभिः देदीप्यमाना ये दीपाः ते विद्यन्ते येषु तेषु, वास-गृहेषु सदनेसु वा। रात्रौ निशीथे निशायां वा। उपसखि सख्याः समीपम् इति 'उपसखि' नैकट्यमिति भावः। भृशं गात्रसंकोचभाजाम् अधिकं गात्र-संकोचं भजन्तीति गात्रसंकोचभाजाम्। ह्रीमूढानां वधूनां लज्जाविधुराणां कामिनीनाम्। अभिकुचयुगं स्तनद्वयसम्मुखं रागेणान्धैः कान्तैः प्रेम्णा प्रियतमैः स्नेहेन। प्रेरितः हृद्यगन्धिश्चूर्णमुष्टिः प्रक्षेपः सुवासितमुष्टिगृहीतकुंकुमादिधूलिः विफलो भवति निष्फलो वर्तते ॥ ७५ ॥

शब्दार्थः — यस्याम्—जिस द्वारिका में, उल्लसद्दीपवत्सु—चमकते हुए (रत्न) दीपों वाले, शयनभवनेषु—शयनगृहों में, शयन-कक्ष में, रात्रौ—रात्रि में, उपसखिभृशम्—सखी के समीप अत्यधिक, गात्रसंकोचभाजम्—गात्रसंकोच वाली, ह्रीमूढानाम्—लज्जा के कारण किंकर्तव्यविमूढ़, वधूनाम्—अङ्गनाओं के, अभिकुचयुगम्—स्तनद्वय के सम्मुख, रागेणान्धैः—राग से अन्ध, कान्तैः—प्रियतम के द्वारा, प्रेम्णा—स्नेह से, प्रेरितः—फेंका गया, हृद्यगन्धिः चूर्णमुष्टिः—सुवासित कुंकुमादि की मुट्ठी, विफलः—निष्फल, भवति—हो जाती है।

अर्थः — जिस द्वारिका के चमकते हुए रत्नदीपों वाले शयनगृहों में रात्रि में (भी) सखी के समीप अत्यधिक गात्रसंकोच वाली लज्जा के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ सुन्दरियों के स्तनद्वय के सम्मुख राग से युक्त प्रियतम के द्वारा स्नेह से फेंका गया सुवासित कुंकुमादि की मुट्ठी निष्फल हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गायन्तीभिस्तदमलयशो वारसीमन्तिनीभिः,
साकं वाद्यन्मधुरमरुजं तारनादान्यपुष्टम् ।
यस्यां रम्यं सुरभिसमये सोत्सवाः सीरिमुख्या,
बद्धापानं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ ७६ ॥

अन्वयः — यस्याम्, सुरभिसमये, बद्धापानम्, कामिनः, सोत्सवाः सीरिमुख्याः, तदमलयशः, गायन्तीभिः, वारसीमन्तिनीभिः, साकम्, वाद्यन्मधुरमरुजम्, तारनादान्यपुष्टम्, रम्यम्, बहिरुपवनम्, निर्विशन्ति ।

गायन्तीभिरिति । यस्यां सुरभिसमये हे नाथ । यस्यां द्वारिकायां वसन्तसमये । बद्धापानं कामिनः सोत्सवाः सीरिमुख्याः मद्यपानं यत्र तद्बद्धापानं बद्धगोष्ठि यथा स्यात्तथा इतिभावः, कामुकाः उत्सवेन सह बलप्रमुखाः । तदमलयशो गायन्तीभिः तव नेमेरित्यर्थः, निर्मलकीर्ति गायन्तीभि आलापयन्तीभिः । वारसीमन्तिनीभिः साकं पण्यांगनाभिः, वेश्याभिः सार्धम् । वाद्यन्मधुरमरुजं श्रवणानुकूलम्, 'तारनादान्यपुष्टं' तारनादा–उच्चैः शब्दा अन्यपुष्टाः कोकिला यस्मिन्तत् रम्यं बहिरुपवनं मनोज्ञं बहिरुद्यानं बाह्यारामं वा, निर्विशन्ति उपभोगं कुर्वन्ति (निर्विशन्ति—निर् + √ विश् + लटि प्रथम-पुरुष-बहुवचने विभक्तिकार्यम्) ॥ ७६ ॥

शब्दार्थः —यस्याम्—जिस द्वारिका में, सुरभिसमये—वसन्त काल **में**, **बद्धापानम्**—मद्यपान करते हुये, कामिनः सोत्सवाः— कामोत्सव से युक्त, **सीरिमुख्याः**—बल प्रमुख, तदमलयशः—तुम्हारी निर्मल कीर्ति का, गायन्तीभिः गान करती हुई, वारसीमन्तिनीभिः—वाराङ्गनाओं के, साकम्—साथ, वाद्यन्मधुरमरुजम्—श्रवणानुकूल मरुज वाद्यविशेष (तथा), तारनादान्यपुष्टम्—उच्च स्वर से (गाती हुई) कोकिलों से, रम्यम्—मनोज्ञ, बहिरुपवनम्—बाह्योद्यान का, निर्विशन्ति—उपभोग करते हैं ।

अर्थः — जिस द्वारिका में वसन्त काल में मद्यपान करते हुये कामोत्सव से युक्त बलरामप्रमुख यादव, तुम्हारी निर्मलकीर्ति का गान करती हुई वाराङ्गनाओं के साथ श्रवणानुकूल मरुज वाद्यविशेष तथा उच्चस्वर से (गाती हुई) कोकिलों से रम्य, बाह्योद्यान का उपभोग करते हैं ।

उद्यत्कामालसयुवतिभिः सेव्यमानैः सरोजो-
द्गन्धान् यस्यां सुमधुररसानैक्षिवानापिबद्भिः

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

निर्गम्यन्ते शरदि यदुभिः सद्मपृष्ठेषु कीर्त्या,
नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥७७॥

अन्वयः — यस्याम्, उद्यत्कामालसयुवतिभिः, सेव्यमानैः, सरोजोद्गन्धान्, ऐक्षिवान्, सुमधुररसान्, आपिबद्भिः, यदुभिः, शरदि, सद्मपृष्ठेषु, कीर्त्या, नित्यज्योत्स्नाः, प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः, प्रदोषाः, निर्गम्यन्ते ।

उद्यत्कामालसयुवतिभिरिति । यस्याम् उद्यत्कामालसयुवतिभिः हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायाम् उदयं प्राप्नुवन् यः कामस्तेन अलसाभिः युवतिभिः प्रसारणाकुञ्चनासमर्थाभिः मदनै अङ्गनाभिरित्यर्थः । सेव्यमानैः सरोजोद्गन्धान् भज्यमानैः सरोजगन्धमुत्क्रम्य गन्धो येषां ते सरोजोद्गन्धान् । ऐक्षिवान् इक्षोरिमे विकारा ऐक्षवांस्तान् सुमधुररसान् अतिमृष्टरसान् आपिबद्भिः समन्तात्पानं कुर्वद्भिः । यदुभिः शरदि बलप्रमुखादिभिः शरत्काले । सद्मपृष्ठेषु कीर्त्या नित्यज्योत्स्नाः गृहोपरिभागेषु कीर्तिवत् अनवरतचन्द्रिकाः । प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः विनष्टान्धकारत्वान्मनोहराश्च । प्रदोषाः निर्गम्यन्ते रात्रयः अतिवाह्यन्ते ॥ ७७ ॥

शब्दार्थः — यस्याम्—जिस द्वारिका में, उद्यत्कामालसयुवतिभिः—मदन के उत्कट प्रभाव से अलसाई हुई अङ्गनाओं द्वारा, सेव्यमानैः—सेवित, सरोजोद्गन्धान्—कमल के सुगन्धि से श्रेष्ठ, ऐक्षिवान्—ईक्षु की, सुमधुररसान्—अत्यधिक मधुर रसों का, आपिबद्भिः—पान करते हुये, यदुभिः—यदुसमूह, शरदि—शरत्काल में, सद्मपृष्ठेषु—भवनों के ऊपरी भाग में, भवनों की छतों पर, कीर्त्या—कीर्तिवत्, नित्यज्योत्स्नाः—नित्य चाँदनी से प्रकाशित, (अतएव—अतः), प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः— अन्धकार के दूर रहने के कारण मनोहर, प्रदोषाः—रात्रियों में, निर्गम्यन्ते—निकलते हैं, टहलते हैं ।

अर्थः — जिस द्वारिका में मदन के उत्कट प्रभाव से अलसाई हुई अङ्गनाओं से सेवित, कमल की सुगन्धि से श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) ईक्षु के अत्यधिक मधुर रसों का पान करते हुये यदुसमूह शरत्काल में भवनों के ऊपर कीर्तिवत् नित्य चाँदनी से प्रकाशित (अतएव) अन्धकार के दूर रहने के कारण मनोहर रात्रियों में टहलते हैं, घूमते हैं ।

कौन्दोत्तंसास्तुहिनसमये कुंकुमालिप्तदेहाः,
सान्द्रच्छाये शुचिनि तरुभिर्गोमतीरम्यतीरे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपोल्लासाद्विजितरतयः कन्दुकाभैः सलीलं,
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥ ७८ ॥

अन्वयः — यत्र, कौन्दोत्तंसास्तुहिनसमये, तरुभिः, शुचिनि सान्द्रच्छाये, गोमतीरम्यतीरे, अमरप्रार्थिताः, कन्याः, कुंकुमालिप्तदेहाः, रूपोल्लासाद्विजित-रतयः, कन्दुकाभैः, मणिभिः, सलीलम्, संक्रीडन्ते ।

कौन्दोत्तंसास्तुहिनसमये इति । यत्र कौन्दोत्तंसास्तुहिनसमये हे नाथ! यस्यां द्वारिकायां 'कौन्दोत्तंसाः' कुन्दस्यायं कौन्दः स उत्तंसः—शेखरो यासां ताः कौन्दोत्तंसाः, हेमन्तकाले । तरुभिः शुचिनि सान्द्रच्छाये वृक्षैः पवित्रे स्निग्धच्छाये अनातपे वा । गोमतीरम्यतीरे तटे । अमरप्रार्थिताः कन्याः देवाभिलषिताः कुमार्यः । कुंकुमालिप्तदेहा रूपोल्लासाद्विजितरतयः कुंकुमेन-घुसृणेन आलिप्तो देहो यासां ताः, सौन्दर्यविलासात्पराजितकामस्त्रियः । कन्दु-काभैः मणिभिः कन्दुकवदाभान्ति इति कन्दुकाभैः रत्नैः सलीलं लीलयासहितं संक्रीडन्ते सम्यक्क्रीडन्ति ॥ ७८ ॥

शब्दार्थः — यत्र—जिस द्वारिका में, कौन्दोत्तंसास्तुहिनसमये—चमेली के पुष्प के समान मोर के शिखा सदृश हेमन्त काल में, तरुभिः—वृक्षों की, शुचिनि —पवित्र, सान्द्रच्छाये—घनीछाया में, गोमतीरम्यतीरे—गोमती नदी के रम्य तट पर, अमरप्रार्थिताः—देवगणों द्वारा चाही गयी, कन्याः—कुमारियाँ, कुंकुमालिप्तदेहाः—कुंकुमादि द्रव्योंका शरीर में लेप करके, रूपोल्लासाद्विजित-रतयः—रूपकान्ति से रति को पराजित करती हुई, कन्दुकाभैः—कन्दु आभा सदृश, मणिभिः—मणियों से, सलीलम्—लीलायुक्त, संक्रीडन्ते—क्रीड़ा किया करती हैं ।

अर्थः— जिस द्वारिका में चमेली पुष्प के समान मयूर-शिखा सदृश हेमन्तकाल में, वृक्षों की पवित्र घनी छाया में गोमती नदी के रम्य तट पर देवों द्वारा चाही गयी कुमारियाँ शरीर में कुंकुमादि द्रव्यों का लेपकर रूपकान्ति से रति को पराजित करती हुई, कन्दु आभा सदृश मणियों से लीलायुक्त क्रीड़ा किया करती हैं ।

यस्यां पुष्पोपचयममलं भूषणं सीधुहृद्यं,
गन्धद्रव्यं वसननिवहं सूक्ष्ममिच्छानुकूलम् ।
न्यस्तः प्रीत्या त्रिदशपतिना वासुदेवस्य वेश्म-
न्येकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥७९॥

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

अन्वयः — यस्याम्, वासुदेवस्य, वेश्मनि, त्रिदशपतिना, प्रीत्या, न्यस्तः, एकः, कल्पवृक्षः, पुष्पोपचयम्, अमलम्, भूषणम् सीधुहृद्यम्, गन्धद्रव्यम्, सूक्ष्ममिच्छानुकूलम्, वसननिवहम्, (च) सकलम्, अबलामण्डनम्, सूते ।

यस्यामिति । यस्यां वासुदेवस्य वेश्मनि हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायां कृष्णस्य गृहे, त्रिदशपतिना प्रीत्या न्यस्तः इन्द्रेण शक्रेण वा प्रेम्णा संस्थापितः । एकः कल्पवृक्षः केवलः, एकाकीत्यर्थः, कल्पतरुः । पुष्पोपचयं अमलं भूषणं कुसुमसमूहं निर्मलम् अलंकारम् आभूषणं वा । सीधुहृद्यं गन्धद्रव्यम् आसववन्मनोहरं सुरभिवस्तुः । सूक्ष्ममिच्छानुकूलं वसननिवहं तनुतरंतन्तुनिर्मितं मनोनुकूलं वाससमूहम् । च सकलं तथा सम्पूर्णम्, चतुर्विधमपीत्यर्थः । अबलामण्डनं सूते वनिता-प्रसाधननिचयम् [अविद्यमानं बलं यस्या सा अबला (न० बहु०) ते अबलानां मण्डनं अबलामण्डनम् (ष० तत्०)] उत्पादयति (सूते-अभिषव "√षूङ्+लट्ल० प्र० पु० एकव०) ॥ ७९ ॥

शब्दार्थः — यस्याम्—जिस द्वारिका में, वासुदेवस्य—कृष्ण के, वेश्मनि—गृह में, त्रिदशपतिना—इन्द्र के द्वारा, प्रीत्या—प्रेमपूर्वक, न्यस्तः—रोपा गया, लगाया गया, एकः—एक, अकेला, कल्पवृक्षः—कल्पवृक्ष, (ही), पुष्पोपचयममलम्—पुष्पसमूहों से निर्मित निर्मल, भूषणम्—आभूषण, सीधुहृद्यं गन्धद्रव्यम्—गन्ने के रस की तरह सुगन्धित द्रव्य, गन्ने के रस से बनाये गये शराब की तरह सुगन्धित मद्य विशेष, सूक्ष्ममिच्छानुकूलम्—सूक्ष्म तन्तुओं से निर्मित मनोनुकूल, वसननिवहम्—वस्त्र समूह, (च—इस प्रकार), सकलम्—सम्पूर्ण, अबलामण्डनम्—स्त्रियों के आभूषणों को, सूते—उत्पन्न करता है ।

अर्थः — जिस द्वारिका में कृष्ण के गृह में इन्द्र के द्वारा प्रेम से लगाया गया अकेला कल्पवृक्ष (ही) पुष्पसमूह से निर्मित निर्मल आभूषण, गन्ने के रस से बनाये गये शराब की तरह सुगन्धित मद्यविशेष, सूक्ष्मतन्तुओं से निर्मित मनोनुकूल वस्त्रसमूह (इस प्रकार) स्त्रियों के सम्पूर्ण आभूषणों को उत्पन्न करता है ।

एणांकाश्मावनिषु शिशिरे कुंकुमार्द्रैः पदाङ्कैः,
शीतोत्कम्पाद्गतिविगलितैर्वालकैः केशपाशात् ।
भ्रष्टैः पीनस्तनपरिसराद्ग्रोष्ममाल्यैश्च यस्यां,
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ ८० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — यस्याम्, कामिनीनाम्, नैशः, मार्गः, सवितुः, उदये, शिशिरे, शीतोत्कम्पात्, गतिविगलितैः, केशपाशात्, बालकैः, पीनस्तनपरिसरात्, भ्रष्टैः, रोध्रमाल्यैः, एणांकाश्मावनिषु, कुंकुमार्द्रैः, पदाङ्कैः, च, सूच्यते ।

एणांकाश्मेति । यस्यां कामिनीनां यस्यां द्वारिकायां अभिसारिकाणाम् । नैशः मार्गः निशासम्बन्धि अध्वा । सवितुः उदये दिनकरस्य उदिते सति । शिशिरे शीतोत्कम्पात् शरद्काले शीतेन—उत्प्राबल्येन यः कम्पः तस्मात्, गतिविगलितैः—गत्युत्कम्पात् गमनसञ्चलनात् ध्वस्तैः । केशपाशात् बालकैः चूर्णकुन्तलात् अलकात् वा पुष्पैः । पीनस्तनपरिसरात् भ्रष्टैः स्थूलकुचप्रदेशात् छिन्नैः, रोध्रमाल्यैः रोध्रपुष्पहारैः । एणांकाश्मावनिषु चन्द्रकान्तगृहकुट्टिमेषु, चन्द्रकान्तमणिनिबद्धभूमिषु इत्यर्थः । कुंकुमार्द्रैः पदाङ्कैः घुसृणलिप्तैः चरण-चिह्नैः, च सूच्यते अपि ज्ञाप्यते, अवगम्यते वा ॥ ८० ॥

शब्दार्थः — यस्याम्—जिस द्वारिका में, कामिनीनाम्—अभिसारिकाओं का, नैशः—रात्रि का, मार्गः—रास्ता, सवितुः उदये—सूर्य के निकलने पर, शिशिरे—शरद् काल में, शीतोत्कम्पात् गतिविगलितैः—ठण्ड से उत्पन्न कम्पन-युक्त गति के कारण गिरे हुए, केशपाशात्—केशपाश से, बालकैः—फूलों से, पीनस्तनपरिसरात्भ्रष्टैः—स्थूलकुचप्रदेश पर से टूटे हुए, रोध्रमाल्यैः—रोध्र-पुष्प की हारों से, एणांकाश्मावनिषु—चन्द्रकान्तमणिमय फर्श पर, कुंकुमार्द्रैः—महावर के आर्द्र लेप से युक्त, पदाङ्कैः—चरणों के चिह्नों से, च—भी, सूच्यते—सूचित होता है ।

अर्थः — जिस द्वारिका में अभिसारिकाओं का (प्रिय मिलन हेतु जाने का) रात्रि का रास्ता सूर्य के निकलने पर शरद्काल में ठण्ड से उत्पन्न कम्पनयुक्त गति के कारण केशपाश से गिरे हुए फूलों से, स्थूलकुच प्रदेश पर से टूटे हुए रोध्र-पुष्प की हारों से, चन्द्रकान्तमणिमय फर्श पर महावर के आर्द्रलेप से युक्त चरण के चिह्नों से भी सूचित होता है।

बाणस्याजौ हरविजयिनो वासुदेवस्य यस्यां,
प्राप्यासत्तिं चरति गतभीः पुष्पचापो निरस्त्रः ।
यस्माद्धेला कृतयुवमनोमोहनाप्तप्रकर्ष-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥ ८१ ॥

अन्वयः — यस्याम्, वासुदेवस्य, आसत्तिम्, प्राप्य, पुष्पचापः, निरस्त्रः

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

(सन्), गतभीः, चरति, यस्मात्, तस्य, आजौ, हरविजयिनः, बाणस्य, आरम्भः, हेलाकृतयुवमनोमोहनप्राप्तप्रकर्षैः, चतुरवनिताविभ्रमैः, एव, सिद्धः ।

बाणस्येति । यस्यां वासुदेवस्यासत्ति प्राप्य हे नाथ ! द्वारिकायां कृष्णस्य नैकट्यं सान्निध्यं वा लब्ध्वा, आसाद्य । पुष्पचापः, निरस्त्रः कामदेवः, अस्त्ररहितः सन् । गतभीः चरति गता भयं यस्मात्स गतभयत्वे कामस्य हेतुः स्ववैरिविजेत्राजिनिविष्टकेशवासन्नवस्थायित्वमिति भावः, विहरति अटति वा । यस्मात् तस्य आजौ हरविजयिनः यस्माद्धेतुः कामदेवस्य संग्रामे शम्भुजेतुः, बाणस्यारम्भः इषोर्कार्यैः, व्यापारः । हेलाकृतयुवमनोमोहनप्राप्तप्रकर्षैः हेलया कृतं यद्युवमनोमोहनं—तरुणचेतोरञ्जनं तेनाप्तः प्रकर्ष आधिक्यं यैस्ते तैः । चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः पटुविलासिनीविलासैरेव साधितः ['चतुरवनिताविभ्रमैः' चतुराश्च ताः वनिताः—चतुरवनिताः (कर्म०) तासां विभ्रमाः चतुरवनिताविभ्रमाः (षष्ठी तत्०) तैः, √ सिध् + क्त] ॥ ८१ ॥

शब्दार्थः — यस्याम्—जिस द्वारिका में, वासुदेवस्य—कृष्ण का, आसत्तिम्—सान्निध्य, प्राप्य—प्राप्त कर, पाकर, पुष्पचापः—कामदेव, निरस्त्रः (सन्)—अस्त्ररहित होकर, गतभीः—भय का परित्याग कर, चरति—विहार करता है, विचरण करता है, यस्मात्—जिससे कि, तस्य—कामदेव के, आजौ—संग्राम में, हरविजयिनः—शिवविजयी, बाणस्य—बाण का, आरम्भः—कार्य, हेलाकृतयुवमनोमोहनप्राप्तप्रकर्षैः—क्रीड़ा के द्वारा युवजनों के चित्त को हरने वाली, मोहित करने वाली, चतुरवनिताविभ्रमैः—विदग्धवनिताओं के विलासों से, एव—ही, सिद्धः—सिद्ध हो जाता है ।

अर्थः — जिस द्वारिका में कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करके कामदेव अस्त्ररहित हो भय का परित्याग करके विचरण करता है, जिससे कि (क्योंकि) कामदेव के संग्राम में शिवविजयी बाण का कार्य क्रीड़ा के द्वारा युवजनों के चित्त को हरनेवाली विदग्धवनिताओंके विलासों से ही सिद्ध हो जाता है ।

यायास्तस्मादथ परिवृतस्त्वं प्रवेशाय तस्यां,
तत्प्राचीनं पुरि हरिमुखैर्गोपुरं यादवेन्द्रैः ।
यत्राशोकः कलयति नवस्तोरणाभां तथान्यो-
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ ८२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — अथ, तस्मात्, हरिमुखैः यादवेन्द्रैः; परिवृतः (सन्), त्वम्, तस्याम्, पुरि, प्रवेशाय, तत्प्राचीनम्, गोपुरम्, यायाः, यत्र, नवः, अशोकः, तोरणाभाम्, कलयति, तथा, अन्यः, हस्तप्राप्यस्तबकनमितः, बालमन्दारवृक्षः (अस्ति) ।

यायास्तस्मादथेति । अथ तस्मात् हे नाथ ! अनन्तरं तत्प्रदेशात् केलिगिरे । हरिमुखैः यादवेन्द्रैः परिवृतः कृष्णप्रमुखैः यादवनृपैः आश्रितः सन् । त्वं तस्यां पुरि प्रवेशाय नेमिः द्वारिकायां नगर्यां प्रवेशार्थम् । तत्प्राचीनं गोपुरं गमननिर्गमनानुभूतं पूर्द्वारम्, यायाः गच्छेः । यत्र नवः अशोकः तोरणाभां यस्मिन् पूर्द्वारे नवः अशोकः बहिर्द्वारशोभां, कलयति वहति । तथान्यः हस्तप्राप्यस्तबकनमितः च द्वितीयोऽपि करावलम्बनयोग्यकदम्बकनम्रीभूतः [हस्तप्राप्यस्तबकनमितः' हस्तेन प्राप्याः—हस्तप्राप्याः (तृ० तत्०), हस्तप्राप्याश्च ते स्तबकाः (कर्म०), ते नमितः हस्तप्राप्यस्तबकनमितः (तृ० तत्०)] । बालमन्दारवृक्षः, बालसुरतरुः (बालश्चासौ मन्दारवृक्षश्च बालमन्दारवृक्षः, कर्म०) (अस्ति विद्यते) ॥ ८२ ॥

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, तस्मात्—उस केलिगिरि से, हरिमुखैः—कृष्ण प्रमुख, यादवेन्द्रैः—यदुनृपतियों से, परिवृतः (सन्)—घिरा होकर, त्वम्—नेमि, तस्याम्—उस द्वारिका पुरी में, प्रवेशाय—प्रवेश के लिए, तत्प्राचीनम्—उस प्राचीन, गोपुरम्—नगरद्वार को, यायाः—जाना, यत्र—जिस नगरद्वार के बाहर, नवः अशोकः तोरणाभाम्—नवीन अशोक वृक्ष तोरणद्वार (बहिर्द्वार) की शोभा, कलयति—बढ़ता है, तथा अन्यः—और दूसरा, हस्तप्राप्यस्तबकनमितः—हाथ से पाये जा सकने योग्य पुष्प-गुच्छों से झुका हुआ, बालमन्दारवृक्षः—छोटा सा मन्दार का वृक्ष (भी), (अस्ति—है) ।

अर्थः — इसके बाद, उस केलिगिरि से कृष्णप्रमुख यदुनृपतियों से घिरा हुआ होकर तुम उस द्वारिका पुरी में प्रवेश के लिए उस प्राचीन (गमनागमनानुभूत) नगरद्वार को जाना जिसके बाहर नवीन अशोक वृक्ष तोरणद्वार की शोभा बढ़ाता है तथा दूसरा हाथ से पाये जा सकने योग्य पुष्प-गुच्छों से झुका हुआ छोटा सा मन्दार का वृक्ष (भी है) ।

उद्यद्बालव्यजनमनिलोल्लासिकासप्रसूनाः,
श्वेतच्छत्रं विकसितसिताम्भोजभाजो विलोक्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्यां पौरा विशदयशसं न श्रियः शारदीना,
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्यहंसाः ॥ ८३ ॥

अन्वयः — तस्याम्, त्वाम्, विलोक्य, व्यपगतशुचः, पौराः, नः, उद्यद्वाल-व्यजनम् (इव), अनिलोल्लासिकासप्रसूनाः, श्वेतच्छत्रम् (इव), विकसित-सिताम्भोजभाजः, विशदयशसम् (इव), शारदीनाः, हंसाः, श्रियः, प्रेक्ष्य, अपि, न, अध्यास्यन्ति ।

उद्यद्वालव्यजनमिति । तस्यां त्वां विलोक्य व्यपगतशुचः हे नाथ ! तस्यां द्वारिकायां नेमिमवलोक्य नष्टदुःखाः सन्तः । पौराः द्वारिकानगरनिवासिनः । न उद्यद्वालव्यजनम् (इव) उद्यन्ती—तव पार्श्वयोश्चलन्तीर्वालव्यजने—चामरे यस्य स तम् इत्यर्थः (यथा) । अनिलोल्लासिकासप्रसूनाः—वायुना नर्तनोद्य-तानि कासपुष्पाणि यासु ताः 'अनिलोल्लासिकासप्रसूनाः' । श्वेतच्छत्रम् (इव) विकसितसिताम्भोजभाजो श्वेतानि छत्राणि यस्य (नेमेः) स तं (यथा) प्रफुल्लानि यानि पङ्कजानि तानि भजन्ते यास्ता 'विकसितसिताम्भोज भाजः', विशदयशसम् (इव) शारदीनाः हंसाः श्रियः तव निर्मलकीर्तिम् (यथा) शरत्कालसम्बन्धिनी राजहंसाः कान्तयश्च प्रेक्ष्य दृष्ट्वा अपि नाध्या स्यन्ति न स्मरिष्यन्ति ॥ ८३ ॥

शब्दार्थः — तस्याम्—उस द्वारिका में, त्वाम्—तुमको (नेमि को), विलोक्य—देखकर, व्यपगतशुचः—शोकरहित होकर, पौराः—द्वारिका के नागरिक, न उद्यद्वालव्यजनम् (इव)—तुम्हारे बगल में हिलते हुए चामरों (की तरह), अनिलोल्लासिकासप्रसूनाः—वायु से हिलते हुए स्वच्छ कास-पुष्पों का समूह, श्वेतछत्रम् (इव)—(तुम्हारे) श्वेतछत्र (की तरह), विकसितसिताम्भोजभाजः—खिले हुए श्वेत कमल समूह (तथा) विशदयशसम् (इव)—(तुम्हारे) स्वच्छ यश (की तरह), शारदीनाः हंसाः श्रियः—शरत्काल सम्बन्धिनी राजहंसों की शोभा को, प्रेक्ष्य—देखकर, अपि—भी, नाध्यास्यन्ति—(उसका) स्मरण नहीं करेंगे ।

अर्थः — उस द्वारिका में तुमको देखकर शोकरहित हो उस द्वारिका के निवासी जन, तुम्हारे पार्श्वभाग में डुलाये जाते हुए चामरों (की तरह) वायु से कम्पित स्वच्छ कास पुष्पों के समूह, (तुम्हारे) श्वेतच्छत्र (की तरह) खिले हुए श्वेतकमल समूह (तथा तुम्हारे) निर्मल यश (की तरह) शरत्कालीन राजहंसो की शोभा को देखकर भी उसका स्मरण नहीं करेंगे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्पाकीर्णं पुरि सह तदा यस्त्वया राजमार्गं,
यास्यत्युद्यद् ध्वजनिवसनं चन्दनांभश्छटांकम् ।
शौरिं पीताम्बरधरमनु क्ष्माधरे मेघमेनं,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ ८४ ॥

अन्वयः — क्ष्माधरे, उपान्तस्फुरिततडितम्, एनम्, मेघम्, प्रेक्ष्य, पुरि, तदा, चन्दनांभश्छटांकम्, उद्यद् ध्वजनिवसनम्, पुष्पाकीर्णम्, राजमार्गम्, त्वया, सह, यः, यास्यति, त्वाम्, अनु, तम्, पीताम्बरधरम्, शौरिम्, एव, (अहम्), स्मरामि ।

पुष्पाकीर्णमिति । क्ष्माधरे उपान्तस्फुरिततडितं हे नाथ ! अस्मिन् पर्वते समीपस्फुरितविद्युतम् [स्फुरिताः तडितः यस्य स स्फुरिततडित् (बहुव्री०) उपान्तेषु स्फुरिततडित्—उपान्तस्फुरिततडित् (स० तत्०) तम्] । एनं मेघं प्रेक्ष्य एनं जलदं दृष्ट्वा । पुरि तदा चन्दनांभश्छटांकं तस्यां द्वारिकायां प्रवेशोत्सवे चन्दनांभसां याश्छटास्तासामंकचिह्नं विद्यते यस्मिन्स तम् इत्यर्थः । उद्यद्ध्वजनिवसनम् उच्छलद्पताकापटं वस्त्रं वा । पुष्पाकीर्णं राजमार्गं कुसुमाच्छादितं नृपतिपथम् । त्वया सह यो यास्यति भवता नेमिना इत्यर्थः, सह पीताम्बरधरः शौरिः गमिष्यति । त्वामनु अत एव भवन्तमनुलक्षीकृत्य तदनुगामित्वेनेत्यर्थः । तं पीताम्बरधरं शौरिमेव तं कृष्णमेव स्मरामि अहं राजीमती स्मरणङ्करोमि ॥ ८४ ॥

शब्दार्थः — क्ष्माधरे—इस पर्वत पर, उपान्तस्फुरिततडितम्—छोरों पर चमकती हुई बिजली वाले, एनं मेघम्—इस मेघ को, प्रेक्ष्य—देखकर, पुरि—उस द्वारिका में, तदा—प्रवेश करने पर, चन्दनांभश्छटांकम्—चन्दन जल की आभा से चिह्नित, उद्यद् ध्वजनिवसनम्—लहराती हुई पताकावस्त्र, पुष्पाकीर्णम्—बिखरे हुए पुष्प युक्त, राजमार्गम्—नृपति के मार्ग पर, त्वया सह—तुम्हारे साथ, यः—पीतम्बरधारी कृष्ण, यास्यति—जायेंगे, त्वामनु—तुम्हारा अनुगमन करने वाले, तम्—उस, पीताम्बरधरम्—पीताम्बरधारी, शौरिम्—कृष्ण को, एव—ही, स्मरामि—स्मरण करती हूँ ।

अर्थः — (हे नाथ !) इस पर्वत के समीप चमकती हुई बिजली वाले इस मेघ को देखकर, उस द्वारिका में प्रवेश करने पर चन्दन जल की आभा से चिह्नित लहराती हुई पताका वस्त्र, (तथा) बिखरे हुए पुष्प युक्त नृपति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथ पर तुम्हारे साथ पीताम्बरधारी कृष्ण जायेंगे, (अतः) तुम्हारा (नेमि का) अनुगमन करने वाले उस पीताम्बरधारी कृष्ण का ही (सम्प्रति मैं राजीमती) स्मरण करती हूँ।

यान्तं तस्यां पुरि हरिबलावुत्सवैः कामिनौ त्वां,
हर्षोत्कर्षं नरपतिपथे नेष्यतस्तौ ययोस्तु ।
स्त्रीणामेको रमयति शतान्यङ्गनां पाययित्वा-
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः ॥ ८५ ॥

अन्वयः — तस्याम्, पुरि, नरपतिपथे, यान्तम्, त्वाम्, तौ, कामिनौ, हरिबलौ, हर्षोत्कर्षम्, नेष्यतः, ययोः, एकः, अङ्गनाम्, शतानि रमयति, अन्यः, दोहदच्छद्मना, अस्याः, स्त्रीणाम्, वदनमदिराम्, पाययित्वा, कांक्षति ।

यान्तमिति । तस्यां पुरि नरपतिपथे यान्तं हे नाथ ! द्वारिकायां नगर्यां राजमार्गे गच्छन्तम् । त्वां तौ कामिनौ हरिबलौ भवन्तं नेमिमित्यर्थः उभौ कामुकौ कृष्णबलभद्रौ । हर्षोत्कर्षं नेष्यतः प्रापयिष्यतः । ययोरेकः कृष्णबलभद्रयोर्मध्ये एकः कृष्णः । अङ्गनां शतानि रमयति वधूं वनितां वा शतानि विनोदयति । अन्यः दोहदच्छद्मना अपरो द्वितीयो वा बलभद्रः अङ्गनादिसंस्कारव्याजेन (दोहदस्य छद्म—दोहदछद्म, ष० तत्, तेन) अस्याः स्त्रीणाम् अङ्गनानां कामिनीनाम् वा वदनमदिराम् मुखमद्यम्, पाययित्वा कांक्षति अभिलषति ॥ ८५ ॥

शब्दार्थः — तस्यां पुरि—उस द्वारिका पुरी में, नरपतिपथे—राजमार्ग में, यान्तम्—जाते हुए, त्वाम्—तुम (नेमि) को, तौ कामिनौ—वे दोनों कामुक, हरिबलौ—कृष्ण और बलभद्र (बलराम), हर्षोत्कर्षम्—प्रसन्नता के साथ, नेष्यतः—ले जायेंगे, ययोः—उन दोनों में से, एकः—कृष्ण, अङ्गनाम्—स्त्रियों का, शतानि रमयति—अनेक प्रकार से मनोविनोद करता है, अन्यः—बलभद्र, दोहदछद्मना—दोहद के बहाने, अस्याः—इसके, स्त्रीणाम्—स्त्रियों के, वदनमदिराम्—मुख-मदिरा को, पाययित्वा—पान करने को, कांक्षति—चाहता है ।

अर्थः — उस द्वारिका पुरी में राजमार्ग पर जाते हुए तुमको वे दोनों कामुक कृष्ण और बलभद्र प्रसन्नता के साथ ले जायेंगे । उन दोनों में से कृष्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियों का अनेक प्रकार से मनोविनोद करता है तथा बलभद्र दोहद के बहाने इन स्त्रियों की मुख-मदिरा को पीना चाहता है।

सौधश्रेणीर्विततविलसत्तोरणान्तर्व्यतीत्य,
स्वावासं तं मणिचयरुचा भासुरं प्राप्स्यसि त्वम्।
यस्मिन्कस्मै भवति न मुदे साग्रभूमिर्घनानां,
यामाध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ ८६ ॥

अन्वयः — त्वम् सौधश्रेणीर्विततविलसत्तोरणान्तः, व्यतीत्य, मणिचयरुचा, भासुरम्, तम्, स्वावासम्, प्राप्स्यसि, यस्मिन्, सा, अग्रभूमिः, कस्मै, मुदे, न, भवति, याम्, घनानाम्, सुहृत्, वः, नीलकण्ठः, दिवसविगमे, अध्यास्ते।

सौधश्रेणीरिति। त्वं सौधश्रेणीर्विततविलसत्तोरणान्तः व्यतीत्य हे नाथ! भवान् तस्यां द्वारिकायां नृपभवनराजीविस्तीर्ण-विलसत्तोरण— विलसन्ति विराजन्ति यानि तोरणानि-बहिर्द्वाराणि तेषाम् अन्तः मध्ये अतिक्रम्य। मणिचयरुचा भासुरं रत्नसमूह-कान्त्या देदीप्यमानम्। तं स्वावासं निजवासगृहं प्राप्स्यसि लप्स्यसे। यस्मिन् निजवासगृहे स्वावासे वा सा-अग्रभूमिः। कस्मै मुदे न भवति पुरुषाय हर्षाय न जायते। यां घनानां सुहृत् अग्रभूमिं मेघानां मित्रम्। वः नीलकण्ठः युष्माकं मयूरः (नीलकण्ठः—बहुव्री०)। दिवसविगमे अध्यास्ते दिनसमाप्तौ, प्रदोष इति भावः (दिवसस्य विगमः—दिवसविगमः (ष० तत्०)] अनुतिष्ठति ॥ ८६ ॥

शब्दार्थः—त्वम्—तुम, सौधश्रेणीर्विततविलसत्तोरणान्तः—भवन पंक्तियों की विस्तृत सुशोभित तोरणद्वार (बहिद्वार) के मध्य, व्यतीत्य—अतिक्रमण करके, मणिचयरुचा—रत्नसमूह की कान्ति से, भासुरम्—देदीप्यमान्, तम्—उस, स्वावासम्—अपने निवास भवन को, प्राप्स्यसि—प्राप्त करोगे, यस्मिन्—जिस आवास में, सा अग्रभूमिः—आगे की वह भूमि, ऊपर का वह भाग, कस्मै—किस (पुरुष) के लिए, मुदे—प्रसन्नता के लिए, आनन्द के लिए, न— नहीं, भवति—होता है, याम्—जिस भूमि के अग्र भाग पर, घनानाम्—मेघों का, सुहृत्—मित्र, वः—तुम्हारा, नीलकण्ठः—मयूर, दिवसविगमे—सन्ध्याकाल में, अध्यास्ते—बैठता है।

अर्थः — तुम (उस द्वारिका में) भवन श्रेणियों की विस्तृत सुशोभित तोरण (बहिद्वार) के मध्य अतिक्रमण करके रत्नसमूह की कान्ति से देदी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्यमान् अपने उस निवास गृह को प्राप्त करोगे जिस आवास के आगे का वह भाग, किसके लिए आनन्ददायक नहीं होता है (अर्थात् सभी के लिए आनन्द-दायक होता है), जिसके अग्रभाग पर मेघ का मित्र तुम्हारा मयूर सन्ध्या-काल में बैठता है।

नत्वा पूर्वं पितृमुखगुरून् तान्विसृज्यान्यबन्धून्,
सौधं मां च द्वयमपि ततोऽलंकुरुष्वार्द्रचित्तः ।
यन्निःश्रीकं हरति न मनस्त्वां विना यादवेन्दो !,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ।।८७।।

अन्वयः — (हे) यादवेन्द !, (त्वम्), पूर्वम्, पितृमुखगुरून्, अन्यबन्धून्, नत्वा, तान्, विसृज्य, ततः, आर्द्रचित्तः (सन्), सौधम्, माम्, च, द्वयमपि, अलंकुरुष्व, यत्, त्वाम्, विना, निःश्रीकम्, मनः, न हरति, (यतः), सूर्यापाये (सति), कमलम्, स्वामभिख्याम्, न, पुष्यति, खलु ।

नत्वेति । यादवेन्दो ! त्वं पूर्वं हे यदुकुलचन्द्र ! तस्यां द्वारिकायां प्रवेशं कृत्वा भवान् सर्वप्रथमम् । पितृमुखगुरून् पितरौ आदौ येषां ते पितृमुखास्ते च ते गुरवश्च गरिष्ठास्तान् इत्यर्थः । अन्यबन्धून् अपरस्वजनान्, नत्वा प्रणम्य । तान् विसृज्य स्वगृहगमनायादिश्य ततः आर्द्रचित्तः (सन्) पश्चात् सकरुण-हृदयः सन् । सौधं माम् च स्वावासगृहं माम् राजीमतीञ्च । द्वयमपि अलंकुरुष्व स्वावासगृहञ्च राजीमतीञ्चापि विभूषय । यत् त्वां विना यद्द्वयं भवन्तं विना । निःश्रीकं मनः न हरति गतलक्ष्मीकं श्रीरहितं वा सज्जनानां चेतो न आकर्ष-यति चोरयति वा । सूर्यापाये कमलं स्वामभिख्यां यतः दिनकरास्ते (सूर्यस्य अपायः—सूर्यापायः, ष० तत्, तस्मिन्) पद्मं कान्तिम् । न पुष्यति खलु न धारयति निश्चयेन ।। ८७ ।।

शब्दार्थः — यादवेन्दो—यदुकुलचन्द्र, (त्वम्—तुम), पूर्वम्—पहले, पितृमुखगुरून्—माता-पिता तथा श्रेष्ठजनों को, (तथा), अन्यबन्धून्—अन्य स्वजनों को, नत्वा—प्रणाम करके, तान्—उनको, विसृज्य—निवृतकर (अपने घर जाने का आदेश देकर), ततः—पश्चात्, आर्द्रचित्तः (सन्)—आर्द्रचित्त हो, सकरुण हृदय हो, सौधम्—वासगृह को, माम्—राजीमती को, च—तथा, द्वयमपि—दोनों को भी, अलंकुरुष्व—अलंकृत करो, सुशोभित करो, यत्—जो (दोनों), त्वाम्—तुम्हारे, विना—विरह में, निःश्रीकम्—श्रीरहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर, मनः—सज्जनों का मन, न—नहीं, हरति—आकर्षित करता है, हरण करता है, (क्योंकि), सूर्यापाये (सति)—सूर्य के अस्त हो जाने पर, कमलम्—कमल, स्वामभिख्याम्—अपनी शोभा को, न—नहीं, पुष्यति—धारण करता है, बढ़ता है, खलु—निश्चय ही।

अर्थः — (हे) यदुकुलचन्द्र ! (उस द्वारिका में प्रवेश करके तुम) सर्वप्रथम (अपने) माता-पिता तथा श्रेष्ठजनों को (और) अन्य स्वजनों को प्रणाम करके निवृत (उनको अपने घर जाने का आदेश दे) कर पश्चात् आर्द्रचित्त हो (अपने) वासगृह तथा राजीमती को अलंकृत करो, जो (दोनों) तुम्हारे बिना श्री रहित होकर सज्जनों का मन आकर्षित नहीं करता है; (क्योंकि) सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल (भी) अपनी शोभा को नहीं ही धारण करता है।

इत्युक्तेऽस्या वचनविमुखं मुक्तिकान्तानुरक्तं,
दृष्ट्वा नेमिं किल जलधरः सन्निधौ भूधरस्थः।
तत्कारुण्यादिव नवजलाश्राणुविद्धां स्म धत्ते,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥ ८८ ॥

अन्वयः — इति, उक्ते, अस्याः, वचनविमुखम्, मुक्तिकान्तानुरक्तम्, नेमिम्, दृष्ट्वा, सन्निधौ, भूधरस्थः, जलधरः, नवजलाश्राणुविद्धाम्, खद्योतालीविलसितनिभाम्, विद्युदुन्मेषदृष्टिम्, तत्कारुण्यात्, इव, धत्ते स्म, किल।

इत्युक्तेऽस्या इति। इत्युक्तेऽस्याः वचनविमुखम् अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण अनुनयवाक्ये कथिते सति राजीमत्याः अनुनयवाक्यानासक्तम्। मुक्तिकान्तानुरक्तं नेमिं दृष्ट्वा मोक्षप्रियाऽऽसक्तं नेमिं प्रेक्ष्य। सन्निधौ भूधरस्थो जलधरः नेमेः समीपं गिर्यवस्थितो मेघः। नवजलाश्राणुविद्धां नवतोयाश्राणुव्याप्ताम्। खद्योतालीविलसितनिभां खद्योतपंक्तिस्फुरितसमाम् [खे द्योतन्ते इति खद्योताः, स० तत्०, खद्योतानाम् आली खद्योताली (ष० तत्०) तस्याः विलसितम्—खद्योतालीविलसितम् (ष० तत्०) तेन सदृशी खद्योताली—विलसितनिभा (तृ० त०) ताम्-खद्योतालीविलसितनिभाम्]। विद्युदुन्मेषदृष्टिं तडिज्ज्योति दृशम् [विद्युत उन्मेषः विद्युदुन्मेषः (ष० तत्०) विद्युदुन्मेष एव दृष्टिः—विद्युदुन्मेषदृष्टिः (रूपक) ताम्—विद्युदुन्मेषदृष्टिम्]। तत्कारुण्यादिव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजीमत्योपरि यत्कारुण्यं—करुणा तस्मादिति। धत्ते स्म धारयति स्म, अरोदीदिवेत्यर्थः, किलेति सम्भावनायाम् ॥ ८८ ॥

शब्दार्थः — इति—राजीमती द्वारा इस प्रकार से, उक्ते—कहने पर, (भी), अस्याः—राजीमती के, वचनविमुखम्—अनुनय वाक्य से विमुख, मुक्तिकान्तानुरक्तम्—मुक्तिरूपी प्रिया में आसक्त, नेमिं—नेमि को, दृष्ट्वा—देखकर, सन्निधौ—नेमि के समीप में, भूधरस्थः—पर्वत पर स्थित, जलधरः—मेघ ने, नवजलाश्राणुविद्धाम्—नूतन जलबुन्दों से व्याप्त, खद्योतालीविलसितनिभाम्—जुगुनुओं की पंक्ति के प्रकाश की तरह, विद्युदुन्मेषदृष्टिम्—बिजली की चमकरूपी दृष्टि को, तत्कारुण्यादिव—राजीमती की करुणा की तरह, धत्ते स्म—धारण किया, रोया, किल—सम्भावना अर्थ में प्रयुक्त।

अर्थः — राजीमती द्वारा इस प्रकार से कहने पर (भी) उसके अनुनय वाक्य से विमुख मुक्तिरूपी प्रिया में आसक्त नेमि को देखकर मेघ ने नूतन-जलबुन्दों से व्याप्त जुगुनुओं की पंक्ति के प्रकाश की तरह बिजली की चमक-रूपी दृष्टि को, राजीमती की करुणा की तरह, धारण किया, अर्थात् रोया।

तत्सख्यूचे तमथवचनं वाञ्छितं साधयास्या,
बालामेनां नय निजगृहं शैलशृङ्गं विहाय।
त्वत्संयोगान्ननु धृतिसमेतानवद्यांगयष्टि-
र्या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ ८९ ॥

अन्वयः — अथ, सखी, तम्, तत्, वचनम्, ऊचे, शैलशृङ्गम्, विहाय, अस्याः, वाञ्छितम्; साधय, (च), एनाम्, बालाम्, निजगृहम्, नय, या, अनवद्यांगयष्टिः, युवतिविषये, धातुः, आद्या, सृष्टिः, इव, तत्र, त्वत्संयोगात्, ननु, धृतिसमेता, स्यात्।

तत्सखीति। अथ सखी तम् अनन्तरं सखी नेमिम् तद्वचनम् ऊचे अकथयत्। शैलशृङ्गं विहाय हे राजन्! गिरिशिखरं परित्यज्य त्यक्त्वा वा। अस्याः वाञ्छितं साधय राजीमत्याः मनोऽभिलषितं सिद्धं कुरु पूरय वा। एनां बालां तथा इमां राजीमतीम् निजगृहं नय स्वसदनं प्रापय। या अनवद्यांगयष्टिः अनवद्या-निष्पापा अंगयष्टिर्यस्याः सा राजीमती। युवतिविषये या राजीमती ललितसम्बन्धे, धातुः स्रष्टुः, ब्रह्मण इति भावः। आद्या सृष्टिरिव प्रथमा रचनेव अस्तीत्यर्थः। तत्र त्वत्संयोगात् तस्यां द्वारिकायां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तवसदने भवतः सम्मेलनात् । ननु धृतिसमेता स्यात् निश्चितं सन्तोषवती भवेत् ॥ ८९ ॥

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, सखी—राजीमती की सहेली ने, तम्—उस नेमि से, तत् वचनम्—यह वचन, ऊचे—कहा, शैलशृङ्गम्—पर्वतशिखर को, विहाय—त्याग कर, छोड़कर, अस्याः—राजीमती की, वाञ्छितम्—मनोभिलषित इच्छा को, साधय—पूरा करो, (च—तथा), एनां बालाम्—इस बाला राजीमती को, निजगृहम्—अपने घर (द्वारिका), नय—ले जाओ, या—जो, अनवद्यांगयष्टिः—दोष रहित अंगोंवाली राजीमती, युवतिविषये—युवतियों के मध्य, धातुः—ब्रह्मा की, आद्या—सबसे पहली, सृष्टिः—रचना, इव—सी, तत्र—वहाँ (द्वारिका में), त्वत्संयोगात्—तुम्हारे संयोग से, ननु—निश्चित ही, धृतिसमेता—सन्तोषवती, स्यात्–हो ।

अर्थः — इसके बाद, राजीमती की सखी ने नेमि से यह वचन कहा—(हे राजन् !) इस पर्वत शिखर को छोड़कर राजीमती की मनोभिलाषा को पूरा करो (तथा) इस बाला को अपने घर (द्वारिका) ले जाओ जो, दोषरहित अंगों वाली युवतियों के मध्य ब्रह्मा की सबसे पहली रचना सी है, वहाँ (द्वारिका में तुम्हारे निवास गृह में) तुम्हारे संयोग से सन्तोषवती हो ।

अस्वीकारात्सुभग भवतः क्लिष्टशोभां कियद्भि-
र्मृद्वीमन्तर्विरहशिखिना वासरैर्दह्यमानाम् ।
एनां शुष्यद्वदनकमलां दूरविध्वस्तपत्रां,
जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥९०॥

अन्वयः — (हे) सुभग !, भवतः, अस्वीकारात्, क्लिष्टशोभाम्, कियद्भिः, वासरैः, अन्तर्विरहशिखिना, दह्यमानाम्, शुष्यद्वदनकमलाम्, एनाम्, मृद्वीम्, तुहिनमथिताम्, दूरविध्वस्तपत्राम्, पद्मिनीम्, वा, अन्यरूपाम्, जाताम्, मन्ये ।

अस्वीकारेति । सुभग ! भवतः अस्वीकारात् हे सुभग ! तवानंगीकारात् । क्लिष्टशोभां म्लानकान्तिम्, कियद्भिर्वासरैर्दिनैः । अन्तर्विरहशिखिना हृदयवियोगाग्निना, दह्यमानां ज्वल्यमानाम् । शुष्यद्वदनकमलाम्—शुष्यच्छोषं प्राप्नुवद्वदनकमलं यस्याः सा ताम् । एनां मृद्वीम् इमां कोमलाङ्गीम् । तुहिनमथितां दूरविध्वस्तपत्रां तुषारपीडितां कमलिनीम् [तुहिनं—हिमं तेन

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

मथिता—तुहिनमथिता (तृ० तत्०) ताम् —तुहिनमथिताम्]। दूरविध्वस्त-पत्राम्—दूरेण विध्वस्तान्यपनीतानि पत्राणि यया सा ताम्। पद्मिनीं वा कमलिनीं यथा। अन्यरूपां जाताम् अपराकृतिम् [अन्यं रूपं यस्याः सा अन्यरूपा (बहुव्री०) ताम्] भूताम्, मन्ये संभावयामि, हिमविकृतरूपा सा (राजीमती) विरहिणी अन्यरूपा अभवत् इति तर्कयामि इति भावः ॥ ९० ॥

शब्दार्थः — सुभग—हे सुभग, भवतः—आपके, अस्वीकारात्—अस्वीकार कर देने के कारण, क्लिष्टशोभाम्—म्लान कान्ति वाली (राजीमती), कियद्भिर्वासरैः— तुम्हारे परित्याग के दिनों से, अन्तर्विरहशिखिना—हृदय में प्रज्वलित विरहाग्नि से, दह्यमानाम्—जलती हुई, शुष्यद्वदनकमलाम्—सूखे अंगों वाली, एनाम्—इस, मृद्वीम्—कोमलाङ्गी को, तुहिनमथिताम्—पाला मारी गई, दूरविध्वस्तपत्राम्—पत्र को दूर कर दिया गया है (समाप्त कर दिया गया है) जिसकी ऐसे; पद्मिनीम्—कमलिनी की, वा—तरह, अन्यरूपाम्—दूसरे ही रूप को, जाताम्—प्राप्त हो गई, मन्ये—मानती हूँ, अनुमान करती हूँ।

अर्थः — हे सुभग ! आपके अस्वीकार कर देने के कारण म्लानकान्ति वाली (राजीमती) तुम्हारे परित्याग के दिनों से हृदय में प्रज्वलित विरहाग्नि में जलती हुई सूखे अंग वाली इस कोमलाङ्गी को पाला मारी गई पत्र से रहित कमलिनी की तरह दूसरे ही रूप को प्राप्त हो गई, ऐसा मैं मानती हूँ।

आकांक्षन्त्या मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि सख्याः,
पश्यामुष्या मुखमनुदितं म्लानमस्मेरमश्रि।
उद्यत्तापात्कुमुदमिव ते कैरविण्या वियोगा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥ ९१ ॥

अन्वयः — मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि, आकांक्षन्त्या, अमुष्याः, सख्याः, अनुदितम्, मुखम्, अश्रिः, उद्यत्तापात्, कैरविण्याः, स्मेरम्, म्लानम्, कुमुदम्, इव, ते, वियोगात्, त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः, इन्दोः, दैन्यम्, बिभर्ति, पश्य।

आकांक्षन्त्येति। मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि आकांक्षन्त्या हे राजन् ! तव कोमलहस्ताश्लेषसुखानि वाञ्छन्त्या। अमुष्याः सख्याः अस्याः राजीमत्याः। अनुदितं मुखम् अश्रिः शोभया अप्राप्तोदयं शोभारहितं वा आननमश्रिः—श्रीः, कान्ति इति भावः। उद्यत्तापात् उत्कटोष्णात्, कैरविण्या स्मेरं म्लानं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमुदमिव कुमुदवत्याः अविकस्वरं शुष्कं कुमुदं यथा। ते वियोगात् तव नेमे इति भावः, विरहात्। त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः भवतरनुगमनक्षीणद्युतेः [तव अनुसरणं—त्वदनुसरणम् (ष० तत्०)। क्लिष्टा कान्तिर्यस्य स क्लिष्ट-कान्तिः (बहुव्री०) त्वदनुसरणेन क्लिष्टकान्तिः—त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तिः (तृ० तत्०) तस्य]। इन्दोर्दैन्यं बिभर्ति चन्द्रमसो दीनतां धारयति, पश्यावलोकय ॥ ९१ ॥

शब्दार्थः — मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि—तुम्हारे कोमल हाथ के स्पर्श सुखों की, आकांक्षन्त्या—अभिलाषा करती हुई, अमुष्याः—इस, सख्याः—राजीमतीका, अनुदितम्—शोभासे रहित, मुखम्—मुख की, श्रिः—कान्ति, शोभा, उद्यत्तापात्—उत्कट ताप (ग्रीष्म) के कारण, कैरविण्याः—श्वेत कुमुद वृक्षके, स्मेरम्—खिले हुए, म्लानम्—मलीन, कुमुदम्—कुमुदपुष्प की, इव—तरह, ते—तुम्हारे, वियोगात्—विरह में, त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः—तुम्हारा पीछा करनेसे फीकी कान्ति वाले, इन्दोः—चन्द्रमा की, दैन्यम्—दीनदशा को, बिभर्ति—धारण करती है, पश्य—देखो।

अर्थः — तुम्हारे कोमलकरस्पर्श के सुखों की अभिलाषा करती हुई इस राजीमती का शोभा से रहित मुखकान्ति, उत्कट ताप के कारण श्वेत कुमुद वृक्ष के खिले हुए म्लान कुमुदपुष्पों की तरह, तुम्हारे वियोग में तुम्हारा पीछा करने से फीकी कान्तिवाले चाँद की दीनदशा को धारण करती है, देखो।

शय्योत्संगे निशि पितृगृहे प्राप्य निद्रां पुरासौ,
त्वं क्व ? स्वामिन् ! व्रजसि सहसेति ब्रुवाणा प्रबुद्धा।
ऊचेऽस्माभिर्न खलु नयनेनापि येनेक्षितासीः,
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥९२॥

अन्वयः — असौ, पितृगृहे, निशि, शय्योत्संगे, निद्राम्, प्राप्य, पुरा, सहसा, प्रबुद्धा, इति, ब्रुवाणा, स्वामिन् ! त्वम् क्व, व्रजसि ?, (तदनु), अस्माभिः, ऊचे, रसिके !, भर्तुः, स्मरसि, कच्चित् ? हि, त्वम्, तस्य, प्रिया, इति येन, नयनेनापि, न ईक्षितासीः, खलु।

शय्योत्संगे इति। असौ पितृगृहे निशि हे राजन् ! राजीमती जनकसदने निशायाम्। शय्योत्संगे निद्रां प्राप्य तल्पोपरि स्वप्नं लब्ध्वा। पुरा सहसा प्रबुद्धा प्रथममकस्मात् जागरिता। इति ब्रुवाणा वदन्ती। स्वामिन् ! त्वं क्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रजसि हे नाथ ! त्वं कुत्र गच्छसि । अस्माभिरूचे तदनु सखीभिरूचे—रसिके ! भर्तुः स्मरसि कच्चित् ? हे विदग्धे ! स्वामिनः चिन्तयसि किम् ? हि त्वं तस्य यतः राजीमती नेमेः प्रिया असि येन नयनेनापि यतः नेमिना राजीमती नेत्रेणापि, नेक्षितासीः खलु निश्चयेनेव ।। ९२ ॥

शब्दार्थः — असौ—वह राजीमती, पितृगृहे—पिता के घर में, निशि—रात्रि में, शय्योत्संगे—शय्या पर, निद्राम्—निद्रा को, प्राप्य—प्राप्त कर, सोती हुई, पुरा—पहले, सहसा—अचानक, प्रबुद्धा—जागकर, इति—इस प्रकार से, ब्रुवाणा—कहती हुई, (कि) स्वामिन्—हे नाथ, क्व—कहाँ, व्रजसि—जा रहे हो, (पश्चात्) अस्माभिः—हम (सखी) लोगों के द्वारा, ऊचे—कहने पर (कि) रसिके—हे विदग्धे, भर्तुः—स्वामी की, स्मरसि—याद कर रही हो, कच्चित्—क्या ?, हि—क्योंकि, त्वम्—तुम (राजीमती), तस्य प्रिया—उस नेमि की प्रिया, येन—जिसके, नयनेनापि—नेत्र के द्वारा भी, न—नहीं, ईक्षितासीः— चाही गई हो; देखी गई हो, खलु—निश्चय ही ।

अर्थः — (हे राजन् !) वह राजीमती पितृगृह में रात्रि में शय्या पर निद्रा को प्राप्त करके पहले अचानक जागकर इस प्रकार से कहती हुई (कि) हे स्वामि ! तुम कहाँ जा रहे हो ? (पश्चात्) हम (सखी) लोगों के द्वारा कहने पर (कि)—हे विदग्धे ! स्वामी की याद कर रही हो क्या ? क्योंकि तुम उस नेमि की प्रिया हो जिसके द्वारा तुम नेत्र से भी नहीं देखी गई हो ।

टिप्पणीः — उक्त श्लोक के द्वारा कवि ने स्पष्ट कर दिया कि राजीमती का विवाह नेमिनाथ के साथ हुआ नहीं था; अपितु नेमि से विवाह होना निश्चित ही हुआ था । अतः राजीमती को नेमिनाथ की विवाहिता पत्नी नहीं मानना चाहिए ।

एतद्दुःखापनयरसिके प्राक् सखीनां समाजे,
गायत्येषा कितव मधुरं गीतमादाय वीणाम् ।
त्वद्ध्यानेनापहृतहृदया गातुकामा ललज्जे,
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।। ९३ ।।

अन्वयः — एतद्दुःखापनय, प्राक्, सखीनाम्, समाजे, वीणाम्, आदाय; कितव, मधुरम्, गीतम्, गायति (सति), त्वद्ध्यानेनापहृतहृदया, भूयः भूयः, स्वयम्, कृतामपि, मूर्च्छनाम्, विस्मरन्ती, गातुकामा, एषा, रसिके, ललज्जे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतद्दुःखापनयेति। एतद्दुःखापनय प्राक् सखीनां समाजे हे राजन्! तव-विरहजन्यदुःखदूरीकर्तुम् पुरा आलीनां समूहे वीणामादय वल्लकीं नित्वा कितव मधुरं गीतं धूर्ततया मधुरं गीतं संगीतं वा, गायति (सति) आलापयति सति। त्वद्ध्यानेनापहृतहृदया भवतः स्मरणेन मुग्धचित्ता। भूयो भूयः स्वयं कृतामपि पुनः पुनरात्मना विहितामपि। मूर्च्छनां विस्मरन्ती स्वराऽऽरोहाऽवरोहक्रमं विस्मरणं कुर्वन्ती। गातुकामा गातुमभिलषन्ती एषा रसिके इयं विदग्धे बाला राजीमती इति भावः, ललज्जे ॥ ९३ ॥

शब्दार्थः — एतद्दुःखापनय—तुम्हारे वियोगजन्य दुःख को छिपाने के लिए, प्राक्—पहिले, सखीनाम्—सखियों के, समाजे—समूह में, वीणाम्—वीणा को, आदाय—लेकर, कितव—छल से, मधुरम्—कर्णप्रिय, गीतम्—गीत को, गायति (सति)।—गाती हुई, त्वद्ध्यानेनापहृतहृदया—तुम्हारे स्मरण से अपहृत चित्त हो, भूयो भूयः—बार-बार, स्वयम्—खुद, कृतामपि—बनाई गई भी, मूर्च्छनाम्—स्वरों के उतार एवं चढ़ाव के क्रम को, विस्मरन्ती—भूलती हुई, गातुकामा—गाने की इच्छा वाली, एषा—यह, रसिके—रसीली (राजीमती), ललज्जे—लज्जित हो जाती।

अर्थः — तुम्हारे वियोगजन्य दुःख को छिपाने के लिए सखियों के समूह में पहले वीणा को लेकर छल के बहाने मधुर गीत को गाती हुई तुम्हारे स्मरण से अपहृत चित्त होकर बार-बार खुद बनाई गई स्वरों के उतार-चढ़ाव के क्रम को भूलती हुई गाने की इच्छा वाली यह रसीली (राजीमती) लज्जित हो जाती।

त्वत्प्राप्त्यर्थं विरचितवती तत्र सौभाग्यदेव्याः,
पूजामेषा सुरभिकुसुमैरेकचित्ता मुहूर्तम्।
दैवज्ञान् वा नयति निपुणान् स्म क्षणं भाषयन्ती,
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः ॥ ९४ ॥

अन्वयः — तत्र, त्वत्प्राप्त्यर्थम्, एषा, मुहूर्तम्, एकचित्ता (सती), सौभाग्यदेव्याः, सुरभिकुसुमैः, पूजाम्, विरचितवती, वा, निपुणान्, दैवज्ञान्, भाषयन्ती, क्षणम्, नयति स्म, प्रायेण, अङ्गनानाम्, रमणविरहेषु, एते, विनोदाः, (भवन्ति)।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

त्वत्प्राप्त्यर्थमिति । तत्र त्वत्प्राप्त्यर्थं हे राजन् ! तस्यां द्वारिकायां भवतः संयोगार्थम् । एषा मुहूर्तम् एकचित्ता—राजीमती क्षणम् एकाग्रमना सती । सौभाग्यदेव्याः, सुरभिकुसुमैः पूजां विरचितवती सुगन्धिपुष्पैरर्चनां कृतवती । वा निपुणान् दैवज्ञान् पुनः त्रिकालवेदिनो ज्योतिषिकान् । भाषयन्ती क्षणं वार्तालापं कुर्वन्ती मुहूर्तं, नयति यापयति स्म । प्रायेण अङ्गनानां बहुशः कामिनीनाम् । रमणविरहेषु एते प्रियतमवियोगेषु (रमणस्य विरहः—रमणविरहः, ष० तत्०, तेषु) पूर्वोक्ता । विनोदाः कालात्ययोपायाः भवन्तीति शेषः ॥ ९४ ॥

शब्दार्थः — तत्र—वहाँ (द्वारिका में) त्वत्प्राप्त्यर्थम्—तुम्हारे प्राप्ति के लिए, एषा—यह राजीमती, मुहूर्तम्—क्षण भर, कुछ समय तक, एकचित्ता (सती)—एकाग्रचित्त होकर, सौभाग्यदेव्याः—सौभाग्य देवी की, सुरभिकुसुमैः—सुगन्धित पुष्पों से, पूजाम्—पूजा, अर्चना, विरचितवती—करती हुई, वा—पुनः, निपुणान्—त्रिकालज्ञ, दैवज्ञान्—ज्योतिषियों से, भाषयन्ती—कहती हुई, बोलती हुई, क्षणम्—समय को, नयति स्म—व्यतीत करती थी, प्रायेण—प्रायः, अधिकतर, अङ्गनानाम्—रमणियों के, रमणविरहेषु—प्रियतम के विरह के दिनों में, एते—ये ही, विनोदाः—मन बहलाव के साधन, (भवन्ति—हुआ करते हैं) ।

अर्थः — (हे राजन् !) वहाँ (द्वारिका में) तुम्हारे प्राप्ति के लिए यह राजीमती क्षणभर एकाग्रचित्त हो सौभाग्यदेवी की सुगन्धित पुष्पों से पूजा करती हुई पुनः त्रिकालज्ञ ज्योतिषियों से बोलती हुई समय को व्यतीत करती थी, प्रायः अङ्गनाओं (रमणियों) के लिए, प्रियतम के विरह के दिनों में, ये ही मनबहलाव के साधन (हुआ करते हैं) ।

याते पाणिग्रहणसमयेऽद्रिं विहाय त्वयीमां,
त्यक्त्वा माल्यं सपदि रचिता या त्वया प्राग्वियोगे ।
तामेवैषा वहति शिरसा स्वे निधाय प्रदेशे,
गल्लाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥ ९५ ॥

अन्वयः — पाणिग्रहणसमये, इमाम्, विहाय, अद्रिम्, याते (सति), त्वयि, वियोगे, सपदि, माल्यम्, त्यक्त्वा, या, त्वया, प्राक् रचिता, ताम् कठिनविषमाम्, एकवेणीम्, करेण, गल्लाभोगात्, स्वे प्रदेशे, निधाय, एषा, शिरसा, वहति ॥ ९५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

याते इति। पाणिग्रहणसमये इमां विहाय हे राजन् ! परिणयकाले विवाह-काले वा राजीमतीं त्यक्त्वा। अद्रिं याते त्वयि गिरिं प्रति गते सति। त्वयि वियोगे भवति नेमौ इति भावः विरहे। सपदि माल्यं त्यक्त्वा झटिति शीघ्रं वा जयमालां परित्यज्य। या त्वया प्राक् रचिता केशपाशी नेमिना पूर्वं ग्रथिता न पुनः। तां कठिनविषमां, केशपाशीं परुषोच्चावचाम् (कठिना चासौ विषमा कठिनविषमा, कर्मधा०, ताम्)। एकवेणीं करेण एकबन्धवतीं वेणीं (एकाचासौ वेणीं—एकवेणी, कर्मधा०, ताम्) हस्तेन, गल्लाभोगात् करेण कपोल-प्रदेशात् (गल्लस्य आभोगः—गल्लाभोगः, ष० तत्० तस्मात्)। स्वे प्रदेशे निजे शिरोभागे, निधाय संस्थाप्य। एषा शिरसा राजीमती मस्तकेन वहति ॥ ९५ ॥

शब्दार्थः — पाणिग्रहणसमये—विवाहकाल में, इमाम्—इस (राजीमती) को, विहाय—छोड़कर, अद्रिम्—रामगिरि पर, याते (सति)—चले जाने पर, त्वयि—तुम्हारे (नेमि के), वियोगे—विरह में, सपदि—शीघ्र, माल्यम्—जयमाला को, त्यक्त्वा—त्याग करके, या—जो चोटी, प्राक्—पहले, त्वया—तुम्हारे कारण, रचिता—गूंथी गई थी, ताम्—उस, कठिनविषमाम्—कठोर और टेढ़े-मेढ़े (खुरदुरी), एकवेणीम्—एक गुच्छवाली चोटीको, करेण—हाथ से, गल्लाभोगात्—कपोल प्रदेश पर से (हटाकर), स्वे प्रदेशे—अपने शिरोभाग पर, निधाय—रखकर, धारण कर, एषा—यह राजीमती, शिरसा—शिर से, वहति—ढो रही है।

अर्थः — (हे राजन्!) विवाह-काल में इसको छोड़कर रामगिरि पर, चले जाने पर तुम्हारे (नेमि के) विरह में शीघ्र जयमाला का त्याग करके जो चोटी पहले तुम्हारे कारण गूंथी गई थी उस कठोर और टेढ़े-मेढ़े एक गुच्छवाली चोटीको हाथ से कपोल-प्रदेश पर से (हटाकर) अपने शिरो भाग पर रखकर यह राजीमती शिर के द्वारा ढो रही है।

गीताद्यैर्वा श्रुतिसुखकरैः प्रस्तुतैर्वा विनोदैः,
पौराणीभिः कृशतनुमिमां त्वद्वियोगात्कथाभिः।
तुष्टिं नेतुं रजनिषु पुनर्नालिवर्गः क्षमोऽभूत्,
तां[1] मुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥ ९६ ॥

अन्वयः — त्वद्वियोगात्, कृशतनुम्, इमाम्, सौधवातायनस्थः, आलिवर्गः,

1. 'तामुन्निद्रामवनिशयनासन्नवातायनस्थः' इति पाठान्तरम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतिसुखकरैः, गीताद्यैः, प्रस्तुतैः, विनोदैः, वा, पौराणीभिः, कथाभिः, वा, रजनिषु, उन्निद्राम्, अवनिशयनाम्, ताम्, तुष्टिम्, नेतुम्, पुनः, न, क्षमोऽभूत् ।

गीताद्यैर्वा इति। त्वद्वियोगात् कृशतनुमिमां हे राजन् ! भवतः नेमे इत्यर्थः, विरहात् कृशाङ्गीमेनां राजीमतीम् इति भावः। सौधवातायनस्थः आलिवर्गः वातस्य आयनं वातायनम् (ष० तत्०), । सौधवातायने तिष्ठतीति सौधवातायनस्थः (उपपदः) सखीसमूहः । श्रुतिसुखकरैर्गीताद्यैः श्रवणसुखदैर्गीताद्यैः । प्रस्तुतैर्विनोदैः प्रस्तावोचितैरञ्जनावाक्यैर्वा । पौराणीभिः कथाभिः पुराणसम्बन्धिनीभिः कथाभिः वा । रजनिषून्निद्रामवनिशयनां निद्रासुभग्ननिद्रां भूमि-शायिनीम्, [उन्निद्राम्—उत्सृष्टा निद्रा यया सा उन्निद्रा (बहुव्री०) ताम् । अवनिशयनाम्—अवनिरेव शयनं यस्याः सा अवनिशयना (बहुव्री०) ताम् ।] तां बालां, विरहविधुरां राजीमतीम् इति भावः। तुष्टिं नेतुं प्रीतिं दातुम् । न क्षमोऽभूत् पुनः समर्थो नाभूत् ।। ९६ ।।

शब्दार्थः — त्वद्वियोगात्—तुम्हारे विरह के कारण, तुम्हारे वियोग में, कृशतनुम्—दुबली-पतली शरीर वाली, इमाम्—राजीमती को, सौधवातायनस्थः (सन्)—अटारी की खिड़की पर बैठकर, आलिवर्गः—सखीसमूह, श्रुतिसुखकरैः—कर्णप्रिय, गीताद्यैः—गीतादि से, प्रस्तुतैः—प्रस्तावोचित, समयानुकूल, विनोदैः—रञ्जनायुक्त वाक्यों से, वा—अथवा पौराणीभिः—पौराणिक, पुराणसम्बन्धिनी, कथाभिः—कथाओं से, वा—अथवा, रजनिषु—रात्रि में, उन्निद्राम्—भग्ननिद्रा वाली, जागती हुई, अवनिशयनाम्—पृथ्वी पर सोयी हुई, ताम्—उस विरह विधुरा राजीमती को, तुष्टिम्—सान्त्वना, नेतुम्—देने में, पुनः—फिर भी, न—नहीं, क्षमोऽभूत्—समर्थ हुई ।

अर्थः — तुम्हारे (नेमि के) विरह में दुबली-पतली शरीर वाली इस राजीमती को अटारी की खिड़की पर बैठकर सखीसमूह कर्ण सुखद गीतादि से अथवा समयानुकूल रञ्जनायुक्त वाक्यों से अथवा पुराण सम्बन्धिनी कथाओं से रात्रि में भग्ननिद्रावाली उस राजीमती को सान्त्वना देने में फिर भी समर्थ नहीं हुई ।

या प्रागस्याः क्षणमिव नवैर्गीतवार्ताविनोदै-
रासीत् शय्यातलविगलितैर्गल्लभागो विलक्ष्य ।
रात्रिं संवत्सरशतसमां त्वत्कृते तप्तगात्री,
तामेवोष्णैर्विरहजनितैरश्रुभिर्यापयन्ती ।। ९७ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — अस्याः, प्राक्, नवैर्गीतवार्ताविनोदैः, या, क्षणम्, इव, आसीत्, त्वत्कृते, तप्तगात्री, ताम्, एव, रात्रिम्, गल्लभागः, विलंघ्य, शय्यातलविगलितैः, विरहजनितैः, उष्णैः, अश्रुभिः, संवत्सरशतसमाम् यापयन्ती ।

या प्रागस्या इति । अस्याः प्राक् हे राजन् ! राजीमत्याः बाल्यावस्थायाम् । नवैर्गीतवार्ताविनोदैः—गीतानि च गायनोद्गातानि वार्ताश्च पुरा भवाः विनोदाश्च तैः इत्यर्थः । या क्षणमिव रात्रिः मुहूर्तं यथा आसीत् । त्वत्कृते तप्तगात्री त्वदर्थं विरहसन्तप्तदेहा, इयं राजीमती इति शेषः । तामेव रात्रिं पूर्वोक्तामेव रजनिम् । गल्लभागः विलंघ्य कपोलप्रदेश अतिक्रम्य । शय्यातलविगलितैः तल्पतलपतितैः । विरहजनितैः उष्णैः वियोगोत्पन्नैः तप्तैः । अश्रुभिः संवत्सरशतसमां नेत्राम्बुभिः वर्षशतं यथा, यापयन्ती गमयन्ती ।। ९७ ।।

शब्दार्थः—अस्याः—राजीमती का, प्राक्—पहिले (पाणिग्रहण के समय से पूर्व), नवैर्गीतवार्ताविनोदैः—नवीनगीत–वार्तालाप, रञ्जाना युक्त व्यापारों से, या—जो रात्रि, क्षणम्—क्षणभर की, पलभर की, इव—तरह, आसीत्—थी, त्वत्कृते—तुम्हारे द्वारा परित्याग से, तप्तगात्री—सन्तप्त शरीर वाली राजीमती, तामेव—उसी, रात्रिम्—रात को, गल्लभागः—कपोल-प्रदेश का, विलंघ्य—अतिक्रमण कर, लाँघकर, शय्यातलविगलितैः—शय्या पर गिरते हुए, विरहजनितैः—वियोग से उत्पन्न, उष्णैः—तप्त, गर्म, अश्रुभिः—आँसुओं से, संवत्सरशतसमाम्—सौ वर्षों की तरह, यापयन्ती—व्यतीत करती हुई (यह—) ।

अर्थः — (हे राजन) इस राजीमती का बाल्यकाल में नवीन गीतों तथा वार्ता-विनोद के द्वारा जो रात्रि एक क्षण की तरह थी, तुम्हारे द्वारा किये गये परित्याग के कारण सन्तप्तशरीर वाली वह, उसी रात्रि को कपोल प्रदेश का अतिक्रमणकर के शय्यातल पर गिरते हुए वियोगजनित गर्म अश्रुओं के द्वारा, सौ वर्षों के समान व्यतीत करती हुई (यह—) ।

टिप्पणी: — उक्त श्लोक का सम्बन्ध अगले दो श्लोकों से है ।

पश्यन्ती त्वन्मयमिव जगन्मोहभावात्समग्रं,
ध्यायन्ती त्वां मनसि निहितं तत्क्षणं तद्विरामे ।
मूर्तिं भित्तावपि च लिखितामीक्षितुं ते पुरस्ता-
दाकांक्षन्ती नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ।। ९८ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — मोहभावात्, जगत्समग्रम्; त्वन्मयम्; इव, पश्यन्ती; तद्विरामे; तत्क्षणम्, मनसि, निहितम्, त्वाम्, ध्यायन्ती, च, नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्; भित्तावपि, ते, पुरस्ताद्, मूर्तिम्, लिखितामीक्षितुम्, आकांक्षन्ती ।

पश्यन्तीति । मोहभावात् जगत्समग्रं हे राजन् ! इयं राजीमती मूर्छाप्रभावादखिलं जगत् । त्वन्मयमिव भवतः नेमेः रूपं यथा, पश्यन्ती अवलोकयन्ती । तद्विरामे मूर्छावसाने । तत्क्षणं मनसि तन्मुहूर्तं चेतसि । निहितं त्वां ध्यायन्ती स्थापितं भवन्तं नेमिम् इतिभावः, स्मरन्ती । च नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशां तथा अश्रुप्रवाहनिरुद्धस्थानम् [नयनोः सलिलानि—नयनसलिलानि (ष० तत्०) तेषामुत्पीडः—नयनसलिलोत्पीडः (ष० तत्०) रुद्धः अवकाशो यस्याः सा रुद्धावकाशा (बहुव्री०) नयनसलिलोत्पीडेन रुद्धावकाशा—नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशा (तृ० तत्) ताम्] । भित्तावपि, ते पुरस्ताद् तवाग्रे । मूर्तिं लिखितामीक्षितुं स्वप्रतिबिम्बं चित्रितामीक्षितुम्, आकांक्षन्ती वाञ्छन्ती ।। ९८ ।।

शब्दार्थः — मोहभावात्—मोहवश, जगत्समग्रम्—समस्त जगत् को, त्वन्मयम्—नेमिमय की, इव—तरह, पश्यन्ती—देखती हुई, तद्विरामे—मोह के अवसान होने पर, तत्क्षणम्—उसी क्षण, मनसि—मन में, हृदय में, निहितम्—स्थापित, त्वाम्—तुम्हारा नेमिका, ध्यायन्ती—स्मरण करती हुई, ध्यान करती हुई, च—पुनः, नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्—आंसुओं के प्रवाह से रुद्धस्थान वाली, भित्तावपि—दीवाल पर भी, ते—तुम्हारे, पुरस्ताद्—आगे, मूर्तिम्—अपना प्रतिबिम्ब, लिखितामीक्षितुम्—बनाने की, बनाने के लिए, आकांक्षन्ती—चाहती हुई (यह राजीमती—) ।

अर्थः — मोहवश समस्त जगत् को नेमिमय की तरह देखती हुई, मोह के अवसान होने पर उसी समय हृदय में स्थापित तुम्हारा ध्यान करती हुई पुनः आंसुओं के प्रवाह से रुद्धस्थान वाली दीवाल पर भी तुम्हारे आगे अपना प्रतिबिम्ब बनाने की इच्छा करती हुई (यह राजीमती—) ।

अन्तर्भिन्ना मनसिजशरैर्मीलितक्षी मुहूर्तं
लब्ध्वा संज्ञामियमथ दृशाऽवीक्षमाणार्तिदीना ।
शय्योत्संगे नवकिशलयस्रस्तरे भद्रं[1] लेभे,
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता ।। ९९ ।।

---

१. 'शर्म' इति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — अथ, मनसिजशरैः, अन्तर्भिन्ना (सती), मीलिताक्षी, आर्तिदीना, इयम्, मुहूर्तम्, संज्ञाम्, लब्ध्वा, दृशा अवीक्षमाणा, नवकिशलयस्रस्तरे, शय्योत्संगे, साभ्रे, अह्नि, न, प्रबुद्धा, न, सुप्ता, स्थलकमलिनी, इव, भद्रम्, लेभे ।

अन्तर्भिन्नेति । अथ मनसिजशरैः अन्तर्भिन्ना हे राजन् ! अनन्तरं मदनबाणैः चेतसि-विदारिता सती । मीलिताक्षी-मीलिते अक्षिणी यया सा मीलिताक्षीति । आर्तिदीना त्वत् विरहपीडिता, इयं राजीमती । मुहूर्तं सज्ञां लब्ध्वा क्षणं चेतनां प्राप्य । दृशा अवीक्षमाणा भवन्तं, नेमिम् इति भावः अपश्यन्ती । नवकिशलयस्रस्तरे शय्योत्संगे नूतनकुड्मलसंस्तरे तल्पोपरि । साभ्रेऽह्नि जलधराऽऽच्छन्ने दिवसे । न प्रबुद्धा न सुप्ता न विकसिता न च मुकुलिता । स्थलकमलिनी इव भूमिपद्मिनी यथा । भद्रं लेभे शान्तिं प्राप्नोति ॥ ९९ ॥

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, मनसिजशरैः—काम-बाण से, अन्तर्भिन्ना—विदीर्णहृदया, मीलिताक्षी—अधखुले नेत्रों वाली, आर्तिदीना—तुम्हारे वियोग में पीडिता, इयम्—राजीमती, मुहूर्तम्—क्षण भर, संज्ञाम्—चेतना को, लब्ध्वा—प्राप्त करके, दृशा अवीक्षमाणा—आपको नहीं देखती हुई, नवकिशलयस्रस्तरे—नवीन कलियों की तरह, शय्योत्संगे—शय्या पर, साभ्रे—मेघाच्छन्न, अह्नि—दिन में, न—न तो, प्रबुद्धा—विकसित, न—न तो, सुप्ता—मुकुलित, स्थलकमलिनी—स्थलकमलिनी की, इव—तरह, भद्रम्—शान्ति, चैन, लेभे—पाती है ।

अर्थः — इसके बाद, काम-बाण से व्यथित अधखुले नेत्रों वाली तुम्हारे विरह से पीडिता यह राजीमती, क्षणभर चेतना को प्राप्त करके आपको नहीं देखती हुई, नवीन कलियों की तरह शय्या पर मेघाच्छन्न दिन में न तो विकसित और न तो मुकुलित स्थलकमलिनी की तरह शान्ति पाती है ।

वृत्तान्तेऽस्मिन् तदनु कथिते मातुरस्यास्तयैत-
द्वृत्तं ज्ञातुं निशि सह मया प्रेषितः सौविदल्लः ।
सख्या पश्यन्नयमपि दशां तां तदोचे च जातं,
प्रत्यक्षन्ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥१००॥

अन्वयः — अस्याः, मातुः, अस्मिन्, वृतान्ते, कथिते (सति), तदनु, एतद्वृत्तम्, ज्ञातुम्, निशि, तया, मया, सख्य, सह, सौविदल्लः, प्रेषितः, अयम्, अपि, ताम्, दशाम्, पश्यन्, च, तदा, ऊचे, (हे) भ्रातः, मया,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्, उक्तम्, (तत्) निखिलम्, अचिरात्, ते, प्रत्यक्षम्, जातम् ।

वृतान्तेऽस्मिनिति । अस्याः मातुः हे राजन् ! अनन्तरं राजीमत्याः मातुः शिवायाः पुर इति भावः । अस्मिन् वृतान्ते राजीमत्यनंगीकाररूपे, कथिते ज्ञापिते सति । तदनु एतद्वृत्तं श्रवणानन्तरम् एतच्चरित्रम्, ज्ञातुं वेदितुम् । निशि तया, राज्ञी मात्रा । मया सख्या सह सार्धम् । सौविदल्लः प्रेषितः कञ्चुकी प्रेरितः । अयमपि तां दशां पश्यन् सौविदल्लोऽपि राजीमत्याः पूर्वोक्तामवस्थामवलोकयन् । तदा ऊचे कथयामास । भ्रातः मया यत् उक्तं हे सखि ! सौविदल्लेन तद्दीनदशादिकं यत् कथितम् । निखलमचिरात् तत्सम्पूर्णं त्वरितम् । ते प्रत्यक्षं जातं तव नेत्रसम्मुखं अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षम् (अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति समासः) भविष्यतीति अर्थः ॥ १०० ॥

शब्दार्थः --अस्याः--इस (राजीमती) की, मातुः--माता शिवा को, अस्मिन् वृत्तान्ते—राजीमती के अनंगीकार रूपी कथा, कथिते (सति)-- कहने पर, तदनु--पश्चात्, एतद्वृत्तम्--इस वृत्तान्त को, इस घटना को, ज्ञातुम्—जानने के लिए, निशि—रात में, तया—राजीमती की माता द्वारा, मया सख्या सह—मेरी सखी के साथ, सौविदल्लः—कञ्चुकी को, प्रेषितः— भेजा गया । अयमपि—यह सौविदल्ल भी, ताम्—उस, दशाम्—स्थिति को, अवस्था को, पश्यन्—देखते हुए, देखकर, च—पुनः, तदा—तब, ऊचे— कहा, भ्रातः—हे सखि, मया—मैंने, यत्—जो कुछ भी, उक्तम्—कहा है, निखिलम्—वह सभी, अचिरात्—शीघ्र ही, ते—तुम्हारे, प्रत्यक्षम्—आँखों के सामने, जातम्—आएगा ।

अर्थः — इस राजीमती की माता को राजीमती के परित्याग रूपी वृत्तान्त को कहने पर, पश्चात् इस वृत्तान्त को जानने के लिए रात्रि में उसकी माता ने मेरी सखी के साथ कञ्चुकी को भेजा । यह कञ्चुकी भी उस (राजीमती की अनादर रूपी) अवस्था को देखते हुए पुनः तब कहा—हे सखि ! मैंने जो कुछ भी कहा है (उसकी दीन-दशादि का वर्णन किया है, वह सब) पूरा का पूरा शीघ्र ही तुम्हारी आँखों के सामने आएगा ।

प्रेक्ष्यैतस्मिन्नपि मृगदृशस्तामसह्यामवस्था-
मस्या याते कथयति पुरो विस्तरादेतदेव ।
दृग्भ्यां दुःखाद्दुहितुरसृजद्बाष्पमच्छिन्नधारं,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ १०१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — एतस्मिन्नपि, मृगदृशः, अस्याः, ताम्, असह्यावस्थाम्, प्रेक्ष्य, याते, पुरः, विस्तरादेतदेव, कथयति (सति), दुहितुः, दुःखात्, दृग्भ्याम्, अच्छिन्नधारम्, वाष्पम्, असृजत्, प्रायः, आर्द्रान्तिरात्मा, सर्वः, करुणावृत्तिः, भवति ।

प्रेक्ष्यैतस्मिन्नपि इति । एतस्मिन्नपि हे यादवेश ! मात्रा प्रेषितो कञ्चुकयपि । मृगदृशः अस्याः मृगनयनीराजीमत्याः । तामसह्यावस्थाम् पूर्वोक्तां कठिनदशाम् । प्रेक्ष्य याते अवलोक्य आगते सति । पुरो विस्तरादेतदेव शिवायाः सम्मुखं यत्किञ्चित्तेन सौविदल्लेन दृष्टः तदखिलमेव इति भावः । कथयति (सति) विज्ञापिते सति । दुहितुः दुःखात् राजीमत्याः वेदनात् । दृग्भ्यामच्छिन्नधारं लोचनाभ्यामत्रुटितप्रवाहम् । वाष्पमसृजत् अस्त्रममुञ्चत् । प्रायः आर्द्रान्तरात्मा बहुशः नर्महृदयः (आर्द्रः अन्तरात्मा यस्य सः आर्द्रान्तरात्मा, बहुव्री०) सर्वः करुणावृत्तिः निखिलः दयामयचित्तवृत्तिः [करुणायां वृत्तिर्यस्य सः करुणा वृत्तिः, बहुव्री०], भवति वर्तते ।। १०१ ।।

शब्दार्थः—एतस्मिन्नपि—यह सौविदल्ल (कञ्चुकी) भी, मृगदृशः—मृगलोचनी, अस्याः—राजीमती की, ताम्—उस, असह्यावस्थाम्—दयनीय दशा को, प्रेक्ष्य—देखकर, याते (सति)—लौटकर, पुरः—(माता के) सम्मुख, आगे, विस्तरादेतदेव—विस्तारपूर्वक वर्णन्, कथयति (सति)—कहने पर, किया, दुहितुः—पुत्री (राजीमती) के, दुःखात्—दुःख से, दुःख के कारण दुःखी, दृग्भ्याम्—नेत्रों से, अच्छिन्नधारम्—अविच्छिन्न, वाष्पम्—आँसुओं को, असृजत्—बहाया, प्रायः—प्रायः, अक्सर, आर्द्रान्तरात्मा—कोमल हृदय वाले, सर्वः—सभी व्यक्ति, करुणावृत्तिः—करुणा से पूर्ण चित्त वाले, भवति—हुआ करते हैं ।

अर्थः — यह सौविदल्ल भी मृगनयनी राजीमती की उस विरहावस्था को देखकर, लौटकर (उसकी माता शिवा के) आगे विस्तारपूर्वक उस अवस्था का वर्णन किया, (जिससे) पुत्री की दुःख से दुखी माता (शिवा) ने अविच्छिन्न अश्रुप्रवाहित किया (अर्थात् रोया), (क्योंकि) कोमलहृदय वाले प्रायः सभी व्यक्ति करुणा से आर्द्रचित्त हुआ करते हैं ।

आहूयैनामवददथ सा निर्दयो योऽत्यजत्त्वा-
मित्थं मुग्धे ! कथय किमियद्धार्यते तस्य दुःखम् ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

त्यक्त्वा लोलं नयनयुगलं तेऽरुणत्वं रुदत्या-
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ १०२ ॥

अन्वयः — अथ, सा, एनाम्, आहूय, अवदत्, मुग्धे !, यः, निर्दयः, इत्थम्, त्वाम्, अत्यजत्, तस्य, इयत्, दुःखम्, किम्, धार्यते, रुदत्याः, ते, लोलम्, नयनयुगलम्, अरुणत्वम्, त्यक्त्वा, मीनक्षोभात्, चलकुवलयश्रीतुलाम्, एष्यति, इति ।

आहूयैनामिति । अथ सा हे नृपते ! अनन्तरं राजीमत्याः अम्बा, शिवा इति भावः । एनामाहूय अवदत् राजीमतीमकार्यं अकथयत् । मुग्धे ! यो निर्दयः नेमिः दयारहितः । इत्थम्-बहुभिः विज्ञप्तिवाक्यैः प्रसादितोऽपि इत्यर्थः । त्वाम् अत्यजत् राजीमतीम् अमुञ्चत् । तस्य इयद्दुःखं नेमेः बहुना बहुशः वा क्लेशम् । किं धार्यते किमर्थमुह्यते । रुदत्यास्ते लोलं नयनयुगलं पश्य विलपत्यास्तव चपलम् अक्षिद्वयम् । अरुणत्वं त्यक्त्वा रक्तत्वं विहाय । मीन-क्षोभात् मत्स्यसञ्चरणात् (मीनैः क्षोभः—मीनक्षोभः, तृ० तत्०, तस्मात्) । चलकुवलयश्रीतुलां चञ्चलनीलपद्मशोभोपमाम् [चलञ्च तत् कुवल-यम् (कर्मधा०) तस्य श्री चलकुवलयश्री (ष० तत्०) तस्याः तुलाम्—चलकुवलयश्रीतुलाम्, (ष० तत्०)] । एष्यतीति गमिष्यतीति ॥ १०२ ॥

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, सा—वह (शिवा), उसने, एनाम्—राजीमती को, आहूय—बुलाकर, अवदत्—कहा, मुग्धे—हे भोली-भाली राजीमती, यः—जो, जिसने, निर्दयः—निर्दयी ने, इत्थम्—इस प्रकार से, त्वाम्—तुमको, अत्यजत्—छोड़ दिया है, तस्य—उस (नेमि) का, इयत्—इतना अधिक, दुःखम्—दुःख, किम्,—क्यों, धार्यते—करती हो, रुदत्याः—विलाप के कारण, ते—तुम्हारे, लोलम्—चञ्चल, नयनयुगलम्—नेत्रद्वय, अरुणत्वम्—लालिमा का, त्यक्त्वा—त्याग कर, मीनक्षोभात्—मछली के हिलने-डुलने से, चलकुवलयश्रीतुलाम्—चञ्चल नीलकमल की शोभा की उपमा को, एष्यतीति—प्राप्त हो गया है ।

अर्थः — इसके बाद, माता ने इस राजीमती को बुलाकर कहा—हे मुग्धे ! जिस निर्दयी ने इस प्रकार से (अनुनय करने पर भी) तुमको छोड़ दिया उसका इतना अधिक दुःख क्यों करती हो ? (देखो) रोने के कारण तुम्हारा चञ्चल, नेत्रयुगल रक्तिमा का परित्याग कर मछली के हिलने-डुलने से चञ्चल नीलकमल की शोभा की समता को प्राप्त हो गया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तस्तापान् मृदुभुजयुगं ते मृणालस्य दैन्यं,
म्लानं चैतन्मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य धत्ते ।
प्लुष्टः श्वासैर्विरहशिखिना सद्वितीयस्तवायं,
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ।। १०३ ।।

अन्वयः — ते, एतत्, मृदुभुजयुगम्, अन्तस्तापात्, म्लानम् (सत्), मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य, मृणालस्य, दैन्यम्, धत्ते, द्वितीयः, सरसकदलीस्तम्भगौरः, तव, अयम्, ऊरुः, श्वासैः, प्लुष्टः, विरहशिखिना, सह, चलत्वम्, च, यास्यति ।

अन्तस्तापान् मृदुभुजयुगमिति । ते एतन्मृदुभुजयुगं हे मुग्धे ! तव एतत्कोमलबाहुद्वयम् । अन्तस्तापात् विरहदाहात् । म्लानं मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य श्रीहीनं सत् सूर्यरश्मिदग्धकान्तेः । मृणालस्य दैन्यं कमलनालस्य दीनताम्, धत्ते बिभर्ति । द्वितीयो सरसकदलीस्तम्भगौरः अपरो रसार्द्रकदलीस्तम्भपाण्डुरः [रसेन सहितः—सरसः (तुल्य० बहुव्री०) कदल्याः स्तम्भः—कदलीस्तम्भः (ष० तत्०) । सरसश्चासौ कदलीस्तम्भः—सरसकदलीस्तम्भः (कर्म०) सरसकदलीस्तम्भ इव गौरः—सरसकदलीस्तम्भगौरः (उपमान कर्म०)] । तवायमूरुः तेऽसौसक्थि । श्वासैर्प्लुष्टः विरहनिश्वासैर्दग्धः सन् । विरहशिखिना सह वियोगाग्निना साकम् । च चलत्वं यास्यति च स्पन्दनं प्राप्स्यति ।। १०३ ।।

शब्दार्थः — ते—तुम्हारी, एतत्—यह, मृदुभुजयुगम्—कोमल बाहु (बाँह) युगल, अन्तस्तापात्—विरहाग्नि के ताप से, म्लानं (सत)—म्लान होकर, मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य—सूर्य की किरण से दग्ध कान्ति वाली, मृणालस्य—कमलनाल की, दैन्यम्—दीनता को, धत्ते—धारण करती है, द्वितीयः—दूसरा, सरसकदलीस्तम्भगौरः—रस से आर्द्र केले के स्तम्भ के समान गोरी, तव—तुम्हारी, अयम्—यह, ऊरुः—जाँघ, श्वासैः—(विरह) निश्वास से, प्लुष्टः—दग्ध होकर, विरहशिखिना—विरहाग्नि के, सह—साथ, चलत्वम्—चञ्चलता को, च—तथा, यास्यति—प्राप्त करेगी, प्राप्त हो गया है ।

अर्थः — (हे मुग्धे !) तुम्हारी यह कोमल बाहुद्वय विरहाग्नि के ताप से मलिन होकर सूर्य की किरण से मलिन शोभावाली कमल-नाल की दीनता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को धारण करती है तथा रस से आर्द्र केले के स्तम्भ के समान गोरी तुम्हारी दोनों जाँघ (विरह) निश्वास से दग्ध होकर विरहाग्नि के साथ चञ्चलता को प्राप्त कर लिया है, प्राप्त हो गया है।

वत्से ! शोकं त्यज भज पुनः स्वच्छतामिष्टदेवाः,
कुर्वन्त्येवं प्रयतमनसोऽनुग्रहं ते तथामी ।
भर्तुर्भूयो न भवति रहः संगतायास्तथा ते,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः — (हे) वत्से !, शोकम्, त्यज, पुनः, स्वच्छताम्, भज, एवम्, अमी, इष्टदेवाः, प्रयतमनसः (सन्तः), ते, तथा, अनुग्रहम्, कुर्वन्तु, तथा, भूयः, ते, भर्तुः, रहः, संगतायाः, गाढोपगूढम्, सद्यः, कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि, न, भवति ।

वत्से ! शोकमिति । वत्से ! शोकं त्यज हे पुत्रि ! विरहजन्यदैन्यं मुञ्च । पुनः स्वच्छतां भज च प्रसन्नतां लभस्व । एवम् अमी इष्ट देवाः तथा अभीष्ट देवताः । प्रयतमनसः सोत्साहचेतसः सन्तः । तथा अनुग्रहं कुर्वन्तु च कृपां कुर्वताम् । तथा भूयो ते यस्मात् पुनः तव, राजीमत्या इति भावः, । भर्तुः रहः संगतायाः नेमेः निर्जने एकान्ते वा मिलितायाः गाढोपगूढं सद्यः दृढाऽऽलिङ्गितं [गाढञ्च तदुपगूढम्—गाढोपगूढम् (कर्मधा०)] तत्क्षणम् । कण्ठच्युत-भुजलताग्रन्थि गलस्रस्तबाहुवल्लीग्रन्थनम् [कण्ठात् च्युतः—कण्ठच्युतः (पं० तत्०) भुजौ लते इव भुजलते (उपमित कर्मधा०) भुजलतयोः ग्रन्थिः—भुजलताग्रन्थिः (ष० तत्) । सद्यः कण्ठच्युतः—सद्यःकण्ठच्युतः (सुप्सुपा०) सद्यः कण्ठच्युतो भुजलताग्रन्थिः यस्य तत्—सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि (बहुव्री०)] । न भवति मा स्यात् ॥ १०४ ॥

शब्दार्थः — वत्से—पुत्रि ! शोकम्—दुःख को, त्यज—छोड़ो, पुनः—फिर, पुनः, स्वच्छताम्—प्रसन्नता को, भज—प्राप्त करो, एवम्, अमी—ये, इष्टदेवाः—अभीष्ट देवता, प्रयतमनसः (सन्तः)—सोत्साहचित से, सोत्साह-हृदय से, ते—तुम्हारे ऊपर तथा—उस प्रकार से, अनुग्रहम्—कृपा, कुर्वन्तु—करें, तथा—जिससे, भूयः—पुनः, फिर, ते—तुम्हारे, भर्तुः—पति का, रहः—एकान्त में, संगतायाः—मिलन से, गाढोपगूढम्—कस कर किया गया आलिंगन, सद्यः—उसी क्षण, कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि—गले में बंधी लताओं जैसी भुजाओं का बन्धन विच्छिन्न, न—नहीं, भवति—हो जाय ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः — हे पुत्रि ! दुःख को छोड़ो पुनः प्रसन्नता को प्राप्त करो, एवं ये अभीष्ट देवता सोत्साहचित्त से तुम्हारे ऊपर उस प्रकार से कृपा करें, जिससे पुनः तुम्हारे पति का एकान्त मिलन में कस कर किया गया आलिंगन उसी क्षण गले में बंधी लताओं जैसी भुजाओं के बन्धन से विच्छिन्न न हो जाय।

आरोप्यांके मधुरवचसाऽऽश्वासितेत्थं जनन्या
तत्याजाधिं क्षणमपि न या त्वद्वियोगात्कृशांगी।
संप्रत्येषा विसृजति यथा सूनृतैस्तां तथाजौ,
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः॥ १०५॥

अन्वयः — जनन्या, अंके, आरोप्य, मधुरवचसा, इत्थम्, आश्वासिता (सति), या, क्षणमपि, आधिम्, न तत्याज, आजौ, धीरः, सम्प्रति, यथा, एषा, ताम्, विसृजति, तथा, मानिनीम् सूनृतैः, स्तनितवचनैः, वक्तुम् प्रक्रमेथाः।

आरोप्येति। जनन्या अंके आरोप्य हे राजन्! मात्रा शिवाया उत्संगे संस्थाप्य। मधुरवचसा सरसवाक्यैः, इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण, आश्वासिता या निबोधिता सति राजीमती। क्षणमपि आधिं मुहूर्तमपि दीनताम्। न तत्याज मामुञ्चत्। आजौ धीरः हे सग्रामे दृढः! सम्प्रति अधुना यथा। एषा तां राजीमती पूर्वोक्तां दीनताम्। विसृजति विस्मरति। तथा, मानिनीं राजीमतीम्। सूनृतैः स्तनितवचनैः सत्यैः गम्भीरवाग्भिः। वक्तुं प्रक्रमेथाः भाषितुम् उपक्रमस्व (विध्यर्थे लिङ्। 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मने पदम्) ॥१०५॥

शब्दार्थः — जनन्या—माता शिवा के द्वारा, अंके—गोद में, आरोप्य—रखकर, बैठाकर, मधुरवचसा—प्रियवचनों से, इत्थम्—पूर्वोक्त प्रकार से, आश्वासिता (सति)—सान्त्वना देने पर भी, या—राजीमती ने, क्षणमपि—एक क्षण के लिए भी, आधिम्—विरहजन्य दीनता को, न—नहीं, तत्याज—छोड़ा, आजौ—संग्राम में, धीरः—दृढ़, सम्प्रति—अब, इस समय, यथा—जैसे, एषा—यह राजीमती, ताम्—विरहपीड़ा, विरहजन्य दीनता को, विसृजति—छोड़े, तथा—वैसे, मानिनीम्—राजीमती से, सूनृतैः—सत्य, स्तनितवचनैः—गम्भीर वचनों से, वक्तुम्—बोलना, प्रक्रमेथाः—प्रारम्भ करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः — माता शिवा के द्वारा गोद में बैठाकर प्रियवचनों से पूर्वोक्त प्रकार से सान्त्वना दिये जाने पर भी राजीमती ने एक क्षण के लिए भी विरहजन्य दीनता को नहीं छोड़ा। हे संग्राम में धीर ! अब, जैसे यह राजीमती उस विरहजन्य-दीनता को छोड़े उस प्रकार से इस (राजीमती) से सत्य, गम्भीर वचनों से वक्तव्य प्रारम्भ करो।

टिप्पणी: — उक्त स्थल में 'धीरः' पद की योजना का अभिप्राय है कि नेमिनाथ राजीमती को भली-भाँति समझावे, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः घबराल होती हैं, तब जो स्वयं 'धीर' नहीं होगा, वह दूसरे को धैर्य बँधायेगा, यह सम्भव ही नहीं।

मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय दुःखं सखीना-
मन्तश्चित्तेष्वजनयदियं पाणिपंकेरुहाणि।
हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदती रुन्धती कोमलाभ्यां,
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ १०६ ॥

अन्वयः — इयम्, मातुः, शिक्षाशतमलमवज्ञाय, पाणिपंकेरुहाणि, कोमलाभ्याम्, हस्ताभ्याम्, अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि, प्राक्, रुन्धती, सपदि, मन्द्रस्निग्धैः, ध्वनिभिः, रुदती सखीनामन्तश्चित्तेषु, दुःखम्, अजनयत्।

मातु इति। इयं मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय हे राजन् ! राजीमती शिवायाः उपदेशशतं व्यर्थं मत्वा। पाणिपकेरुहाणि कोमलाभ्यां कमलानि यथा मृदुभ्याम्, हस्ताभ्यां कराभ्यां वा। अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि वियोगिनीबद्धवेणिमोचनोत्कंठितानि [अबलानां वेणयः—अबलावेणयः (ष० तत्०) तासां मोक्षः—अबलावेणिमोक्षः (ष० तत्०) तस्मिन् उत्सुकानि—अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि (स० तत्०)]। प्राक्रुन्धती पूर्वं वारयन्ती। सपदि मन्द्रस्निग्धैः, शीघ्रं गम्भीरमधुरैः [मन्द्राश्च ते स्निग्धाः मन्द्रस्निग्धाः (कर्मधा०) तैः]। ध्वनिभिः रुदती स्तनितैः विलपन्ती। सखीनामन्तश्चित्तेषु दुःखम् आलीनामन्तःकरणेषु कष्टम्, अजनयत् उत्पादयत् ॥ १०६ ॥

शब्दार्थः—इयम्—यह राजीमती, मातुः—माता के, शिक्षाशतमलमवज्ञाय—सभी उपदेशों को व्यर्थ मानकर, पाणिपङ्केरुहाणि—कमल की तरह, कोमलाभ्याम्—कोमल, हस्ताभ्याम्—हाथों द्वारा, से, अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि—(विरहिणी) स्त्रियों की चोटी को खोलने के लिए उत्कंठित,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्—पहिले, रुन्धती—निषेध करती हुई, सपदि—शीघ्र ही, मन्द्रस्निग्धैः—मधुर एवं कर्णप्रिय, ध्वनिभिः—गर्जनों से, रुदती—रोती हुई, सखीनामन्तश्चित्तेपु—सखियों के हृदय में, अन्तःकरण में, दुःखम्—दुःख, अजनयत्—उत्पन्न करती थी।

अर्थः — यह राजीमती, माता के सभी उपदेशों को व्यर्थ मानकर कमल की तरह कोमल हाथों से विरहिणी राजीमती की चोटी को खोलने के लिए उत्कंठित सखियों को पहिले निषेध करती हुई, शीघ्र ही मधुर एवं कर्णप्रिय गर्जनों से रोती हुई सखियों के हृदय में दुःख उत्पन्न करती थी।

वृद्धः साध्व्या सुभग ! तव यः प्रेषितोऽभूत्प्रवृत्तिं,
ज्ञातुं तस्मात्कुशलिनमियं रेवताद्रौ द्विजातेः।
त्वामाकर्ण्योच्छ्वसितहृदयासीत्क्षणं सुन्दरीणां,
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात् किञ्चिदूनः॥ १०७॥

अन्वयः — सुभग !, साध्व्या, तव, प्रवृत्तिम्, ज्ञातुम्, यः, वृद्धः, प्रेषितोऽभूत्, तस्मात्; द्विजातेः, इयम्, त्वाम्, रेवताद्रौ, कुशलिनम्, आकर्ण्य, क्षणम्, उच्छ्वसितहृदया, आसीत्, (यतः), सुन्दरीणाम्, सुहृदुपगतः, कान्तोदन्तः, संगमात्, किञ्चित्, ऊनः।

वृद्ध इति। सुभग ! साध्व्या तव हे भद्र ! सुन्दर्या, राजीमत्या इति भावः, नेमेः। प्रवृत्तिं ज्ञातुं व्यापारं वेदितुम्। यः वृद्धः यो ब्राह्मणः, प्रेषितोऽभूत् प्रेरितोऽभूत्। तस्माद् द्विजातेः तस्मात् विप्रात्। इयं राजीमती। त्वां रेवतद्रौ तव रैवतकाद्रौ रामगिरौ वा। कुशलिनमाकर्ण्य मंगलं श्रुत्वा। क्षणमुच्छ्वसितहृदया किञ्चित्कालं विकसितमना [उच्छ्वसितं हृदयं यस्याः सा उच्छ्वसितहृदया (बहुव्री०)], सा राजीमती इति भावः। आसीत् अभवत्। सुन्दरीणां सुहृदुपगतः यतः कामिनीनां मित्रनीतः [सुहृद् उपगतः—सुहृदुपगतः (तृ० तत्०)]। कान्तोदन्तः संगमात् वल्लभवृतान्तः [कान्तस्य उदन्तः—कान्तोदन्तः (ष० तत्०)] प्रियमिलनात्। किञ्चिदूनः ईषन्न्यूनः, भवति इति शेषः॥ १०७॥

शब्दार्थः — सुभग ! —हे सज्जन !, साध्व्या—राजीमती ने, तव—तुम्हारा, नेमिका, प्रवृत्तिम्—प्रवृत्ति को, ज्ञातुम्—जानने के लिए, यः वृद्धः—जिस वृद्ध (ब्राह्मण) को, प्रेषितोऽभूत्—भेजा था, तस्मात्—उस,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विजातेः—ब्राह्मण से, इयम्—यह, त्वाम्—तुम्हारा, नेमि का, रैवताद्रौ—रैवतक पर्वत पर (रामगिरि पर), कुशलिनम्—शुभ को, मंगल को, आकर्ण्य—सुनकर, क्षणम्—कुछ देर तक, उच्छ्वसितहृदया—उत्सुकता से प्रसन्नहृदय वाली, आसीत्—थी, (क्योंकि), सुन्दरीणाम्—वनिताओं के (नारियों के) लिए, सुहृदुपगतः—मित्र के द्वारा लाया गया, कान्तोदन्तः—प्रिय का वृत्तान्त, संगमात्—मिलन से, किञ्चित्—कुछ ही, ऊनः—कम होता है।

अर्थः — हे भद्र ! राजीमती ने तुम्हारी प्रवृत्ति को जानने के लिए जिस वृद्ध (ब्राह्मण) को भेजा था, उस ब्राह्मण से यह (राजीमती) तुम्हारा (नेमि का) रैवतक पर्वत पर मंगल को सुनकर कुछ देर तक उत्सुकता से प्रसन्नहृदया थी; (क्योंकि) नारियों के लिए मित्र के द्वारा लाया गया प्रिय का वृत्तान्त मिलन से कुछ ही कम होता है।

इत्थं कृच्छ्रे विधुरवपुषो वासरान् वर्षतुल्यां-
स्तस्याः सख्या जनकसदने त्वद्वियोगान्नयन्त्याः ।
अन्तश्चित्ते तव सुखलवो न प्रपेदे प्रवेशं,
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ १०८ ॥

अन्वयः — इत्थम्, वैरिणा, विधिना, रुद्धमार्गः, कृच्छ्रे, विधुरवपुषः, तस्याः, सख्या, जनकसदने, त्वद्वियोगात्, वासरान्, वर्षतुल्यान्, नयन्त्याः, तव, सुखलवः, प्रवेशं, न, प्रपेदे, तैः, संकल्पैः, अन्तश्चित्ते, विशति ।

इत्थमिति। इत्थं वैरिणा विधना रुद्धमार्गः हे सुभग ! अमुना प्रकारेण विपरीतेन विधात्रा अवरुद्धवर्त्मा, तव प्रिया इति शेषः। कृच्छ्रे विधुरवपुषः कष्टे पीडितदेहायाः। तस्याः सख्या मम सख्या राजीमत्या। जनकसदने त्वद्वियोगात् पितृगहे भवतः, नेमे इतिभावः, विरहात्। वासरान् वर्षतुल्यान् दिनानि अहानि वा वर्षमिव, नयन्त्याः यापयन्त्याः सति। तव सुखलवः भवतः क्रीडासौख्यमिच्छन्ती। प्रवेशं न प्रपेदे न प्राप्तवान्। तैः संकल्पैः पूर्वानुभूतैः मनोरथैः अन्तश्चित्ते तव अन्तःकरणे विशति प्रविशिति ॥ १०८ ॥

अर्थः — इत्थम्—इस प्रकार, वैरिणा—वैरी, विधिना—दैव के द्वारा, रुद्धमार्गः—रोक दिया गया है मार्ग जिसका ऐसी, कृच्छ्रे—दुःख में, वियोग में, विधुरवपुषः—व्यथित देह वाली, तस्याः—उसकी (हमारी), सख्या—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सखी राजीमती, जनकसदने—पिता के गृह में, त्वद्वियोगात्—तुम्हारे (नेमि के) वियोग के कारण, वासरान्—दिनों को, वर्षतुल्यान्—वर्ष के समान, नयन्त्याः (सति)—व्यतीत करती हुई, तव सुखलवः—तुम्हारे क्रीड़ा सुख को, प्रवेशं न प्रपेदे—नहीं प्राप्त करके, तैः—उन, संकल्पैः—मनोरथों से, अन्तश्चित्ते—अन्तःकरण में, विशति—प्रवेश करती है ।

अर्थः — इस प्रकार से, वैरी दैव के द्वारा रोक दिया गया है मार्ग जिसका, ऐसी दुःख में व्यथित शरीर वाली हमारी सखी राजीमती पिता के गृह में तुम्हारे वियोग के कारण दिनों को वर्ष के समान व्यतीत करती हुई तुम्हारे क्रीड़ा सुख को नहीं प्राप्त कर उन मनोरथों से तुम्हारे अन्तःकरण में प्रवेश करती है ।

प्राप्यानुज्ञामथ पितुरियं त्वां सहास्माभिरस्मिन्,
सम्प्रत्यद्रौ शरणमबला प्राणनाथं प्रपन्ना ।
अर्हस्येनां विषमविशिखाद्रक्षितुं त्वं हि कृच्छ्रे,
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ।। १०९ ।।

अन्वयः — अथ, इयम् अबला, पितुः, अनुज्ञां, प्राप्य, अस्माभिः, सह, सम्प्रति, अस्मिन्, अद्रौ, त्वाम्, प्राणनाथम्, शरणम्, प्रपन्ना, हि, त्वम्, एनाम्, कृच्छ्रे, विषमविशिखात्, रक्षितुम्, अर्हसि, सुलभविपदाम्, प्राणिनाम्, एतत्, एव, पूर्वाभाष्यम् ।

प्राप्यानुज्ञामथेति । अथ इयम् अबला अनन्तरम् इयं विरहपीडिता राजीमती । पितुः अनुज्ञां प्राप्य उग्रसेनस्य आज्ञामासाद्य । अस्माभिः सह सखीभिः सार्धम् । सम्प्रति अस्मिन् अद्रौ अधुना एतस्मिन् रैवतकगिरौ (रामगिरौ) । त्वां प्राणनाथं भवन्तं नेमिनाथम् । शरणं प्रपन्ना शरणागता । हि त्वमेनां कृच्छ्रे यतः भवान् राजीमतीं कष्टे । विषमविशिखात् उत्कटकामात् । रक्षितुमर्हसि त्रातुं समर्थोऽसि । सुलभविपदां प्राणिनां सुगमापत्तीनाम् [सुलभा विपत् येषां ते सुलभविपदः (बहुव्री०) तेषाम्] जन्तूनाम् । एतदेव पूर्वाभाष्यं कुशलमेव प्राक्कथनीयम् [पूर्वमाभाष्यम्—पूर्वाभाष्यम् (सुप्सुपा०)] ।। १०९ ।।

शब्दार्थः — अथ—इसके बाद, इयम्—यह, अबला—विरहपीडिता राजीमती, पितुः—पिता की, अनुज्ञाम्—अनुमति को, प्राप्य—प्राप्त करके,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्माभिः —हम लोगों के, सह—साथ, सम्प्रति—अब, इस समय, अस्मिन्—इस, अद्रौ—पर्वत पर, त्वाम्—तुम, प्राणनाथम्—प्राणनाथ नेमि के, शरणम्—शरण में, आश्रय में, प्रपन्ना—आयी है, हि—क्योंकि, त्वम्—तुम, एनाम्—इसकी, कृच्छ्रे—कष्ट में, विषमविशिखात्—उत्कट कामपीड़ा से, रक्षितुम्—रक्षा करने के लिए अर्हसि—समर्थ हो, सुलभविपदाम्—विपत्तियों को प्राप्त करने वाले, प्राणिनाम्—प्राणियों के लिए, एतदेव—कुशलप्रश्न ही, पूर्वाभाष्यम्—प्रारम्भ में पूछने योग्य होता है।

अर्थः — इसके बाद, विरहपीडिता यह राजीमती पिता की अनुमति प्राप्त कर हम लोगों के साथ इस समय इस पर्वत पर तुम्हारे शरण में आयी है; क्योंकि तुम इसकी, कष्ट में, उत्कट कामपीड़ा से रक्षा करने में समर्थ हो। विपत्तियों को प्राप्त करने वाले प्राणियों से पहले कुशल ही पूछना चाहिए।

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्तां च रक्तां,
किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्ष्यसे दह्यमानाम्।
तत्स्वीकारात्कुरु मयि कृपां यादवाधीश ! बाला,
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ११० ॥

अन्वयः — यदि, त्वम्, धर्मज्ञः, च, एकचित्ताम्, रक्ताम्, विरहशिखिना, दह्यमानाम्, माम् सहचरीम्, एवम्, किम्, उपेक्ष्यसे, यादवाधीश ! बाला, उत्कण्ठाविरचितपदम्, इदम्, मन्मुखेन, त्वाम् आह, तत्स्वीकारात्, मयि, कृपाम्, कुरु।

धर्मज्ञस्त्वमिति। यदि त्वं धर्मज्ञः हे नाथ ! चेत् भवान् जीवदयालक्षणधर्मज्ञाता, वर्तते इति शेषः। चैकचित्तां रक्तां तर्हि पुनः एकस्मिन् एव भवल्लक्षणे प्रिये चित्तं-मनो यस्याः सा एकचित्ता ताम् अनुरागवतीम्। विरहशिखिना दह्यमानां वियोगाग्निना दग्धमाणम्। मां सहचरीं सहगामिनीं; राजीमतीम् इति भावः। एवं किमुपेक्ष्यसे अनेन प्रकारेण किमर्थमुपेक्षां कुरुषे। यादवाधीश ! बाला उत्कण्ठाविरचितपदं हे नेमे ! राजीमती औत्सुक्यनिर्मितपदम् [उत्कण्ठया विरचितानि पदानि यस्य तत्—उत्कण्ठाविरचितपदम् (बहुव्री०)]। इदं मन्मुखेन त्वामाह अग्रेवक्ष्यमाणं मदाननेन भवन्तं, नेमिं ब्रवीति। तत्स्वीकारात् मयि राजीमत्यङ्गीकारात् राजीमत्योपरि। कृपां कुरु दयां कुरुष्व ॥ ११० ॥

शब्दार्थः — यदि—अगर, यदि, त्वम्—तुम, धर्मज्ञः—धर्म को जानने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले हो, (तो), च—फिर, एकचित्ताम्—एकाग्रचित्त, एकमात्र तुम (नेमि) पर, रक्ताम्—अनुरक्त, आसक्त, विरहशिखिना—वियोगाग्नि में, दह्यमानाम्—जलती हुई, माम्—मुझ, सहचरीम्—राजीमती की, एवम्—इस प्रकार, किम्—क्यों, उपेक्ष्यसे—उपेक्षा कर रहे हो, अवहेलना कर रहे हो, यादवाधीश !—हे यदुश्रेष्ठ !, बाला—(यह) राजीमती, उत्कण्ठाविरचित-पदम्—उत्कण्ठा से रचे गये पदों से युक्त, इदम्—यह आगे कहा जाने वाला (सन्देश), मन्मुखेन—मेरे मुख के द्वारा, त्वाम्—तुम्हें, तुमसे, आह—कहती है (कि), तत्स्वीकारात्—राजीमती को अपना कर, स्वीकार कर, मयि—राजीमती के ऊपर, कृपाम्—कृपा, अनुग्रह, कुरु—करें ।

अर्थः — (हे नाथ !) यदि तुम धर्मज्ञ हो (तो) फिर एकमात्र तुम पर आसक्त वियोगाग्नि में जलती हुई मुझ राजीमती की इस प्रकार से उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? हे यदुश्रेष्ठ ! यह राजीमती उत्कण्ठा से रचे गये पदों से युक्त यह आगे कहा जाने वाला (सन्देश) मेरे मुख के द्वारा तुमसे कहती है कि—राजीमती को अपना कर राजीमती पर अनुग्रह करें ।

दुर्लंघ्यत्वं शिखरिणि पयोधौ च गाम्भीर्यमुर्व्यां,
स्थैर्यं तेजः शिखिनि मदने रूपसौन्दर्यलक्ष्मीम् ।
बुद्धे क्षान्तिं नृवर ! [1]कलयामीति वृन्दं गुणानां,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरुसादृश्यमस्ति ॥१११॥

अन्वयः — (हे) नृवर !, शिखरिणि, दुर्लंघ्यत्वम्, पयोधौ, गाम्भीर्यम्, उर्व्याम्, स्थैर्यम्, शिखिनि, तेजः, मदने, रूपसौन्दर्यलक्ष्मीम्, बुद्धेः, क्षान्तिम्, च, कलयामि, इति, हन्त भीरु, क्वचिदपि, एकस्मिन्, ते, सादृश्यम्, गुणानाम् वृन्दम्, न, अस्ति ।

दुर्लंघ्यत्वमिति । नृवर ! शिखरिणि दुर्लंघ्यत्वं हे नरश्रेष्ठ ! गिरौ स्थौल्यम् । पयोधौ गाम्भीर्यं समुद्रे धैर्यम् । उर्व्यां स्थैर्यं पृथिव्यां स्थायित्वं स्थिरता वा । शिखिनि तेजः वह्नौ प्रतापः । मदने रूपसौन्दर्यलक्ष्मीं कामे रूप-लावण्यम् । बुद्धेः क्षान्तिं सुगते क्षमाम् । च कलयामीति तर्कयामीति, उत्प्रेक्षे वा इत्यस्य ग्रहणम् । हन्तेति विषादे । हे भीरु ! क्वचिदपि कुत्रापि । एकस्मिन् ते सादृश्यम् एकत्र तव, नेमे इति भावः, साम्यम् । गुणानां, वृन्दं समूहम् ।

१. 'कलयागीत' इति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नास्ति नहि वर्तते, तव सादृश्यमेकस्मिन् वस्तुनि क्वापि नास्ति इति भावः ॥ १११ ॥

शब्दार्थः — नृवर—नरश्रेष्ठ ! शिखरिणि—गिरि में (तुम्हारी), दुर्लंघ्यत्वम्—निश्चलता, महत्ता, बड़प्पन, पयोधौ—समुद्र में, गाम्भीर्यम्—(तुम्हारी) गम्भीरता, उर्व्याम्—पृथिवी मे, स्थैर्यम्—(तुम्हारी) स्थिरता, शिखिनि—अग्नि में, तेजः—(तुम्हारा) प्रताप, तेज़, मदने—कामदेव में, रूपसौन्दर्यलक्ष्मीम्—(तुम्हारा) रूप लावण्य, बुद्धे:—तथागत में, बुद्ध में, क्षान्तिम्—(तुम्हारी) क्षमा (आदि गुणों की), च—तथा, कलयामि—सम्भावना करती हूँ, इति—एक अव्यय, हन्त—खेद है कि, भीरु—हे डरपोक !, क्वचिदपि—कहीं भी, एकस्मिन्—एक जगह, ते—तुम्हारे, सादृश्यम्—समान, तुल्य, गुणानाम्—गुणों का, वृन्दम्—समूह, न—नहीं, अस्ति—है ।

अर्थः — हे नरश्रेष्ठ ! गिरि में (तुम्हारा) बड़प्पन, समुद्र में (तुम्हारी) गम्भीरता, पृथिवी में (तुम्हारी) स्थिरता, अग्नि में (तुम्हारा) तेज़, कामदेव में (तुम्हारा) रूप लावण्य तथा बुद्ध में (तुम्हारी) क्षमा (आदि गुणों के होने की) मैं (राजीमति) सम्भावना किया करती हूँ, (परन्तु) हे भीरु ! खेद है कि कहीं भी एक जगह सम्पूर्ण रूप से तुम्हारी समानता नहीं है ।

टिप्पणी: — उक्त स्थल में 'भीरु' शब्द का प्रयोग, राजीमती के त्याग करने के कारण, 'नेमि' के लिए किया है ।

एतानीत्थं विधुरमनसोऽस्वीकृतायास्त्वया मे,
दुःखार्तायाः क्षितिभृति दिनानीश ! कल्पोपमानि ।
आसन्नस्मिन्मदनदहनोद्दीपनानि प्रकामं,
दिक्संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥ ११२ ॥

अन्वयः — (हे) ईश !, त्वया, अस्वीकृतायाः, मे, विधुरमनसः, दुःखार्तायाः, अस्मिन्, क्षितिभृति, इत्थम्, मदनदहनोद्दीपनानि, दिक्संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि, एतानि, दिनानि, प्रकामम्, कल्पोपमानि, आसन् ।

एतानीत्थमिति । ईश ! त्वया अस्वीकृतायाः हे नाथ ! भवता, नेमिना इति भावः, परित्यक्तायाः, राजीमत्याः । मे विधुरमनसः दुःखार्तायाः मम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरहव्यथितमना-शोकसन्तप्तायाः राजीमत्या इति भावः। अस्मिन् क्षितिभृति एतस्मिन् गिरौ। इत्थममुना प्रकारेण मदनदहनोद्दीपनानि कामाग्निमुद्दीपयन्तीति मदनदहनोद्दीपनानि। 'दिक्संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि' प्रविरसन्तीति — गर्जन्तीति, दिक्षु संसक्ता — संलग्नाश्च ते प्रविरसाश्च ते घनाश्च तैर्व्यस्तः सर्वथा निरस्तः सूर्यातपो येषु तानि, दिक्संसक्त०। एतानि दिनानि तानि अहानि। प्रकामं कल्पोपमानि अतिशयेन कल्पेन-युगान्तेन उपमीयन्ते यानि तानि कल्पोपमानि, आसन् बभूवुः ॥ ११२ ॥

शब्दार्थः — ईश ! —हे नाथ !, त्वया—तुमसे, अस्वीकृतायाः—अस्वीकृत होने के कारण, मे—मेरी, विधुरमनसः—विरह में व्यथित, मनवाली, दुःखार्तायाः—शोकसन्तप्ता राजीमती का, अस्मिन्—इस, क्षितिभृति—पर्वत पर, इत्थम्—इस प्रकार से, मदनदहनोद्दीपनानि—कामाग्नि को बढ़ाने वाले, दिक्संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि—दिशाओं में गरजते हुए घने मेघों से आच्छन्न सूर्य की किरण से रहित, एतानि—ये, दिनानि—दिन, प्रकामम्—अतिशयरूप से, कल्पोपमानि—एक कल्प (युग की समाप्ति) की तरह, आसन्—हो गया है।

अर्थः — हे नाथ ! तुमसे स्वीकृत नहीं होने के कारण वियोग से व्यथित मन वाली शोकसन्तप्ता राजीमती का, इस पर्वत पर, इस प्रकार से कामाग्नि को बढ़ाने वाले दिशाओं में गरजते हुए घने मेघों से आच्छन्न सूर्य की किरण से रहित, ये दिन अतिशयरूप से एक कल्प (युग की समाप्ति) की तरह हो गया है।

रात्रौ निद्रां कथमपि चिरात् प्राप्य यावद्भवन्तं,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किंचिदिच्छामि वक्तुम्।
तावत्तस्या भवति दुरितैः प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ ११३ ॥

अन्वयः — रात्रौ, कथमपि, चिरात्, निद्राम्, प्राप्य, स्वप्ने, भवन्तम्, लब्ध्वा, प्रणयवचनैः, किंचिद्, वक्तुम्, यावत्, इच्छामि, तावत्, प्राक्कृतैः, मे, दुरितैः, तस्याः, विरामः, भवति, क्रूरः, कृतान्तः, तस्मिन्, अपि, नौ, संगमम्, न, सहते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रात्री निद्रामिति। रात्रौ कथमपि हे नाथ ! अहं, राजीमती इति भावः निशि महता कष्टेन। चिरात् निद्रां प्राप्य चिरकालेन सुप्तिमवाप्य। स्वप्ने भवन्तं स्वापे त्वां नेमिम् इति भावः लब्ध्वा आसाद्य। प्रणयवचनैः किंचिद् वक्तुं प्रीतिवाक्यैः किंचिद्वक्तुं कथयितुम्। यावदिच्छामि यावत्समयम् अभिलषामि। तावत् प्राक्कृतैः तत्कालाऽवधि पुराकृतैः। मे दुरितैः मम राजीमत्या इति भावः, पापैः। तस्याः विरामो निद्रायाः अवसानः व्यपगमः वा, भवति जायते। क्रूरः कृतान्तः निस्पृहः विधिः [कृतः अन्तः येन सः कृतान्तः (बहुव्री०)]। तस्मिन्नपि नौ स्वप्नेऽपि आवयोः, नेमिराजीमत्यो इति भावः। संगमं न सहते सहवासं न क्षमते ॥ ११३ ॥

शब्दार्थः — रात्रौ—रात में, कथमपि—किसी तरह, बड़ी कठिनाई से, चिरात्—अधिक देर से, निद्राम्—निद्रा को, प्राप्य—प्राप्त कर, स्वप्ने—स्वप्न में, भवन्तम्—आपको (नेमि को), लब्ध्वा—प्राप्त करके, प्रणयवचनैः—प्रीति युक्त वाक्यों से, किंचित्—कुछ, वक्तुम्—कहने के लिए, यावत्—जब तक, इच्छामि—चाहती हूँ, तावत्—उसी समय, प्राक्कृतैः—पूर्व में किये गये, दुरितैः—पापों के कारण, तस्याः—निद्रा की, सुसुप्ति अवस्था की, विरामो भवति—समाप्ति हो जाती है, भंग हो जाती है, क्रूरः—निर्दय, कृतान्तः—दैव, तस्मिन्नपि—उस स्वप्न में भी, नौ—हम दोनों के, सङ्गमम्—मिलन को, न—नहीं, सहते—बर्दास्त करता।

अर्थः — रात्रि में (मैं) किसी प्रकार देर से निद्रा को प्राप्त करके स्वप्न में आपको प्राप्त कर प्रीति-वाक्यों के द्वारा जब तक कुछ कहना चाहती हूँ तभी पूर्व में किये गये मेरे पापों के कारण निद्रा भंग हो जाती है। निर्दय दैव उस स्वप्न में भी हम दोनों (राजीमती और नेमि) के मिलन को नहीं बर्दास्त करता।

मन्नाथेन ध्रुवमवजितो रूपलक्ष्म्या तपोभि-
स्तद्वैरान्मामिषुभिरबलां हन्त्यशक्तो मनोभूः।
दृश्यां 'तप्तेऽवति मम निशि स्रस्तरे चिन्तयन्त्या,
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ ११४ ॥

अन्वयः — मन्नाथेन, रूपलक्ष्म्या, तपोभिः, (च), ध्रुवम्, अवजितः

१. 'कल्प्तेऽविसी' ति पाठान्तरम्।

(सन्), अशक्तः, मनोभूः, तद्वैरात्, माम्, अबलाम्, इषुभिः, हन्ति, इति, तप्तेषु, तरुकिसलयेषु, स्रस्तरे, निशि, चिन्तयन्त्या, मम, दृग्भ्याम्, मुक्तास्थूलाः, अश्रुलेशाः, पतन्ति ।

मन्नाथेनेति । मन्नाथेन रूपलक्ष्म्या राजीमत्याः प्राणनाथेन रूपकान्त्या तपोभिश्च । ध्रुवमवजितः. निश्चितमेव पराजितः सन् । अशक्तः मनोभूः अक्षमः असौ कामदेवः मदनः वा । तद्वैरात् मामबलां नेमेः मात्सर्याद् द्वेषाद् वा विरहपीडितां राजीमतीम् । इषुभिः हन्ति स्वबाणैः पीडयन्ति सन्तापयन्ति वा । इति तप्तेषु तरुकिसलयेषु स्रस्तरे अतएव वृक्षनवपल्लवेषु [तरुणां किसलयानि—तरुकिसलयानि (ष० तत्०) तेषु] इव तल्पोपरि । निशि चिन्तयन्त्या रात्रौ स्मरन्त्या । मम दृग्भ्यां राजीमत्याः लोचनाभ्याम् । मुक्तास्थूलाः अश्रुलेशाः मौक्तिकपीवराः अस्रबिन्दवः वाष्पकणा इत्यर्थः [मुक्ता इव स्थूलाः—मुक्तास्थूलाः (उपमित कर्मधा०), अश्रुणां लेशाः—अश्रुलेशाः (ष० तत्०)], पतन्ति स्खलन्ति ॥ ११४ ॥

शब्दार्थः — मन्नाथेन—मेरे स्वामी नेमि से, रूपलक्ष्म्या—रूपकान्ति में, तपोभिः—तपस्या में, ध्रुवम्—निश्चित रूप से, अवजितः (सन्)—पराजित होकर, अशक्तः—असमर्थ, मनोभूः—कामदेव, तद्वैरात्—तुमसे द्वेष रखने के कारण, शत्रुता के कारण, माम्—मुझ (राजीमती), अबलाम्—विरहिणी को, इषुभिः—बाणों से, हन्ति—पीड़ा देता है, इति—इसलिए, तप्तेषु—कष्टदायक, तरुकिसलयेषु—वृक्षों के नवपल्लव की तरह, स्रस्तरे—शय्यापर, निशि—रात में, चिन्तयन्त्या—स्मरण करते हुए, मम—मेरी, राजीमती की, दृग्भ्याम्—आँखों से, मुक्तास्थूलाः—मोती की तरह बड़ी-बड़ी, अश्रुलेशाः—आँसू की बूंदें, पतन्ति—गिरती हैं, गिरती रहती हैं ।

अर्थः — (हे नाथ !) मेरे स्वामी से रूपकान्ति तथा तपस्या में निश्चित रूप से पराजित होकर असमर्थ यह कामदेव तुमसे द्वेष रखने के कारण मुझ (राजीमती) विरहिणी को (अपने) बाणों से सन्तापित करता है, जिससे कष्टदायक वृक्षके नवपल्लव की तरह कोमल शय्या पर रात में (तुम्हारा) स्मरण करते हुए मेरी आँखों से मोती की तरह बड़ी-बड़ी आँसू की बूंदें गिरती रहती हैं ।

अस्मिन्नेते शिखरिणि मया यादवेशान्तिकात्ते,
जीमूताम्भःकणचयमुचः सञ्चरन्तः पुरस्तात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसेव्यन्ते विषमविशिखोत्तप्तया नीपवाताः,
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति ॥ ११५ ॥

अन्वयः — जीमूताम्भःकणचयमुचः, अस्मिन्, शिखरिणि, ते, अन्तिकात्, पुरस्तात्, नीपवाताः, सञ्चरन्तः, (हे) यादवेश !, पूर्वम्, एभिः, तव, अङ्गम्, स्पृष्टम्, भवेत्, यदि, किल, इति, एते, विषमविशिखोत्तप्तया, मया, संसेव्यन्ते ।

अस्मिन् इति । जीमूताम्भःकणचयमुचः—जीमूताम्भसाम्—मेघजलानां ये कणाः-लेशास्तान् मुंचन्तीति जीमूता० अस्मिन् शिखरिणि एतस्मिन् गिरौ, यत्र तिष्ठति नेमिः, इत्यर्थः । ते अन्तिकात् नेमेः समीपात् । पुरस्तात् नीपवाताः सञ्चरन्तः प्राच्या कदम्बवायवः सञ्चरन्तरिति प्रवृत्ताः । यादवेश ! पूर्वमेभिः हे यदुपते ! प्राक् कदम्बवायुभिः । तवाङ्गं स्पृष्टं भवतः, नेमे इत्यर्थः, शरीरमामृष्टम् । भवेद्यदि किल इति स्याच्चेदिति सम्भावनायाम् एवं प्रकारेण निश्चयेन । एते विषमविशिखोत्तप्तया कदम्बवायवः 'विषमविशिखेन—कामेनोप्तता-सन्तापिता । मया संसेव्यन्ते राजीमत्या आलिङ्ग्यन्ते ॥ ११५ ॥

शब्दार्थः — जीमूताम्भःकणचयमुचः—जलबूंदों को बरसाने वाले मेघ से युक्त, अस्मिन्—इस, शिखरिणि—पर्वत पर, ते—तुम्हारे (नेमि के), अन्तिकात्—समीप से, पुरस्तात्—पूर्व दिशा की ओर, नीपवाताः—कदम्बवायु, सञ्चरन्तः—बहते हैं, यादवेश—हे यदुपते ! पूर्वम्—पहले, एभिः—इनके द्वारा, तव—तुम्हारा, अङ्गम्—शरीर, स्पृष्टम्—स्पर्श किया गया, भवेत् यदि—होगा यदि, कदाचित् होगा, किल—यह सम्भावना अर्थ को यहाँ बतला रहा है, इति—इसलिए, इसी विचार से, एते—ये (कदम्बवायु), विषमविशिखोत्तप्तया—काम से सन्तप्त, मया—मेरे द्वारा (राजीमती के द्वारा), संसेव्यन्ते—आलिंगित की जाती है, वक्षस्थल से लगायी जाती है ।

अर्थः — जलबूंदों को बरसाने वाले मेघ से युक्त इस पर्वत पर तुम्हारे समीप से कदम्बवायु पूर्व की ओर बहते हैं । हे यदुपते ! पहले इनके द्वारा तुम्हारा शरीर कदाचित् स्पर्श किया गया होगा—ऐसी सम्भावना कर ये कदम्बवायु काम से सन्तप्त मेरे (राजीमती) द्वारा आलिंगित किये जाते हैं ।

सञ्चिन्त्यैवं हृदि मयि दयां धारयन् तत्प्रसीद,
स्वामिन्निर्वापय वपुरिदं स्वांगसङ्गामृतेन ।

यत्सन्तप्यानिशमतितरां प्राणलावण्यशेषं,
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ ११६ ॥

अन्वयः — (हे) स्वामिन् !, तत्, हृदि, एवम्, संचिन्त्य, मयि, दयाम्, धारयन्, प्रसीद, (च), गाढोष्माभिः, त्वद्वियोगव्यथाभिः, अशरणम् कृतम्, इदम्, वपुः, यत्, अनिशम्, अतितराम्, सन्तप्य, प्राणलावण्यशेषम्, (तत्), स्वांगसङ्गामृतेन, निर्वापय ।

संचिन्त्यैवमिति । स्वामिन् ! तद्धेतोः हृदि एवं संचिन्त्य, हे नाथ ! चेतसि इत्थं ध्यात्वा । मयि दयां धारयन् राजीमत्योपरि कृपां कुर्वन् बिभ्रत सन् वा, प्रसीद त्वं मुद । गाढोष्माभिः त्वद्वियोगव्यथाभिः अत्यधिकतापवद्भिः त्वदीयवियोगपीडाभिः [गाढ ऊष्मा यासां ता गाढोष्माणः (बहुव्री०) ताभिः । तववियोगः—त्वद्वियोगः (ष० तत्०) तस्य व्यथाः—त्वद्वियोग-व्यथाः (ष० तत्) ताभिः] अशरणं कृतम् अनाथं सम्पादितम् । इदं वपुः मदीयं शरीरम्, यत् अनिशमतितरां तनुमहर्निशमतिशयेन इति भाव । सन्तप्य प्राणलावण्यशेषं प्राणाश्च लावण्यश्च तान्येव शेषं यस्य तत् । तत् स्वांगसङ्गा-मृतेन मदीयं शरीरं निजशरीरालिंगनपीयूषेण, निर्वापय शीतलीं कुरु ॥ ११६ ॥

शब्दार्थः — स्वामिन् ! —हे स्वामि !, तत्—इसलिए, हृदि—हृदयमें, एवम्—ऐसा, संचिन्त्य—विचारकर, मयि—मेरे (राजीमती) पर, दयाम्—दया, कृपा, धारयन्—करते हुए, प्रसीद—(तुम) प्रसन्न हो जाओ, (तथा) गाढोष्माभिः—अत्यधिक सन्ताप वाली, त्वद्वियोगव्यथाभिः—तुम्हारे वियोग की पीड़ा से, अशरणम्—असहाय, कृतम्—बना दिया गया है, इदं वपुः—राजीमती के इस शरीर को, यत्—जो, अनिशम्—निरन्तर, सन्तप्य—संतप्त होकर, प्राणलावण्यशेषम्—प्राण और कान्ति ही शेष है जिसमें, (तत्—मेरे उस शरीर को), स्वांगसङ्गामृतेन—अपने शरीर के आलिंगन रूपी अमृत से, निर्वापय—शीतल करो ।

अर्थः — हे नाथ ! इसलिए हृदय में ऐसा विचार कर मेरे (राजी-मती) पर दया करते हुए तुम प्रसन्न हो जाओ (तथा) अत्यधिक सन्ताप वाली तुम्हारे वियोग की पीड़ा से असहाय बना दिये गये (मेरे) इस शरीर को, जो निरन्तर अत्यधिक संतप्त होकर प्राण और लावण्य मात्र शेष है जिसमें ऐसे (मेरे शरीर को) अपने शरीर के आलिङ्गनरूपी अमृत से शीतल करो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःखं येनानवधि बुभुजे त्वद्वियोगादिदानीं,
संयोगात्तेऽनुभवतु सुखं तद्वपुर्मे चिराय ।
यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिः प्राणभाजां,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ११७ ॥

अन्वय — येन, त्वद्वियोगात्, अनवधि, दुःखम्, बुभुजे, इदानीम्, मे, तद्वपुः, ते, संयोगात्, चिराय, सुखम्, अनुभवतु, यस्मात्, जन्मान्तरविरचितैः, कर्मभिः, प्राणभाजाम्, दशा, चक्रनेमिक्रमेण, नीचैः, उपरि च गच्छति ।

दुःखमिति । येन त्वद्वियोगात् हे नाथ ! येन शरीरेण भवतः नेमे इत्यर्थः, विरहात् विप्रलम्भात् वा । अनवधि अमर्यादम्, दुःखं बुभुजे क्लेशं कष्टं वा भुक्तम् । इदानीं, मे तद्वपुः राजीमत्याः तनुः शरीरं वा । ते संयोगात् भवतः सान्निध्यात् । चिराय सुखम् अनुभवतु दीर्घकालपर्यन्तम् सुखम् आस्वादयतु । यस्माद्धेतोः, जन्मान्तरविरचितैः पूर्वजन्मविहितैः कर्मभिः । प्राणभाजां दशा प्राणिनाम् अवस्था । चक्रनेमिक्रमेण स्यन्दनाङ्गप्रधिपरिपाट्या [चक्रस्य नेमिः— चक्रनेमिः (ष० तत्०) तस्य क्रमः—चक्रनेमिक्रमः (ष० तत्०) तेन— चक्रनेमिक्रमेण] । नीचैरधः, उपरि च ऊर्ध्वञ्च, गच्छति याति ॥ ११७ ॥

शब्दार्थः — येन—जिस शरीर के द्वारा, त्वद्वियोगात्—तुम्हारे विरह में, अनवधि—बहुत अधिक (जिसकी कोई सीमा नहीं), दुःखम्—दुःखों को, बुभुजे—भोगा इदानीम्—इस समय, मे—मेरा (राजीमती का), तद्वपुः—वह शरीर, ते—तुम्हारे (नेमि के), संयोगात्—मिलन से, चिराय—बहुत काल तक, सुखम्—सुख का, अनुभवतु—अनुभव करे, आस्वादन करे, यस्मात्—इसलिए (कि), जन्मान्तरविरचितैः—पूर्व जन्म में किये गये, कर्मभिः—कर्मों के अनुसार, प्राणभाजाम्—प्राणियों की, दशा—अवस्था, चक्रनेमिक्रमेण—पहिये के किनारे के भाग (हाल) की तरह, नीचैं—नीचे, उपरि— ऊपर की ओर, च—और, गच्छति—चलती रहती है ।

अर्थः — जिस शरीर के द्वारा तुम्हारे वियोग में बहुत अधिक दुःखों को भोगा इस समय मेरा (राजीमती का) वह शरीर तुम्हारे (नेमि के) मिलन से बहुत काल तक सुख का अनुभव करे; इसलिए कि पूर्व-जन्म में किये गये कर्मों के अनुसार प्राणियों की अवस्था पहिये के किनारे के भाग (हाल) की तरह नीचे और ऊपर की ओर चलती रहती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रावृट् प्रान्तं प्रिय ! मम गता दुःखदा दुर्दशेव,
प्राप्यान्योन्यव्यतिकरमितः साम्प्रतम् संगमावाम्[1] ।
भोगानेकोत्सवमुखसुखानिच्छया मन्दिरे स्वे,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ११८ ॥

अन्वयः — (हे) प्रिय !, मम, दुःखदा, दुर्दशा, प्रावृट्, इव, प्रान्तम्, गता, इतः, साम्प्रतम्, आवाम्, अन्योन्यव्यतिकरम्, संगम्, प्राप्य, स्वे, मन्दिरे, इच्छया, भोगान्, एकोत्सवमुखसुखान्, परिणतशरच्चन्द्रिकासु, क्षपासु, निर्वेक्ष्याव ।

प्राविडिति । प्रिय ! मम दुःखदा दुर्दशा हे प्रिय ! राजीमत्याः वियोगोत्पन्ना दुरवस्था । प्रावृट् इव वर्षाकालः यथा । प्रान्तं गता अवसानं प्राप्ता । इतः साम्प्रतम् अस्माच्छैलशृङ्गाद् अधुना । आवामन्योन्यव्यतिकरम् अहञ्च त्वञ्चान्योन्यं—परस्परं व्यतिकरः—प्रेमार्द्रचित्तत्वेन संपर्को यस्मिन्स तम् । संगं प्राप्य संयोगं लब्ध्वा, आसाद्य । स्वे मन्दिरे तस्यां द्वारिकायां निजगृहे । इच्छया भोगान् एकोत्सवमुखसुखान् स्वेच्छया एकान्यद्वितीयान्युत्सवमुखानि—उत्सवादीनि सुखानि येषु ते तान् । परिणतशरच्चन्द्रिकासु परिपक्वशरदिन्दुकलासु [परिणताः शरच्चन्द्रिका यासां ताः (बहुव्री०) तासु] । क्षपासु निर्वेक्ष्यावः रात्रिषु भोक्ष्यावहे (निर्वेक्ष्यावः—निर+$\sqrt{}$विश+लृट उत्तम पुरुष द्विवचने विभक्तिकार्यम्) ॥ ११८ ॥

शब्दार्थः — प्रिय !—हे प्रिय ! मम—मेरी (राजीमती की), दुःखदा—वियोग के कारण, दुर्दशा—दयनीय अवस्था, प्रावृट्—वर्षाकाल की, इव—तरह, प्रान्तम्—समाप्त, गता—हो गयी, इतः— यहाँ से, इस पर्वत-शिखर से, साम्प्रतम्—अब, आवाम्—हम दोनों, अन्योन्यव्यतिकरम्—परस्पर प्रेमार्द्रचित्त, संगम्—मिलन को, प्राप्य—प्राप्त कर, स्वे—अपने, मन्दिरे—निवासगृह में, इच्छया—इच्छानुसार, भोगान्—उपभोग के योग्य, एकोत्सवमुखसुखान्—अनेक प्रकार के नये-नये सुखों को, परिणतशरच्चन्द्रिकासु—शरद ऋतु की परिणत चन्द्रिकावाली, क्षपासु – रातों में, निर्वेक्ष्यावः—उपभोग करेंगे ।

अर्थः — हे प्रिय ! मेरी वियोग जन्य दयनीय अवस्था वर्षाकाल की तरह समाप्त हो गई । इस पर्वत-शिखर से अब हम दोनों परस्पर प्रेमार्द्र-

१. 'संगमाय' इति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्त मिलन को प्राप्त कर अपने निवास गृह में इच्छानुसार उपभोग के योग्य नये-नये सुखों को शरद् ऋतु की चाँदनीवाली रातों में भोगेंगे।

टिप्पणी: — 'आवाम्'—'त्वञ्चाहञ्च' इस विग्रह में 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' सूत्र से एकशेष और 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' वार्तिक से पर रहने के कारण 'अस्मद्' शब्द शेष रह गया।

इत्येतस्याः सफलय चिरात् वाक्यमासाद्य सद्यः,
स्वं वेश्मैनां नवरतरसैः स्वस्थचित्तां कुरुष्व।
तल्पे प्राक् त्वां निशि वदति या स्मेक्षमाणेव मोहाद्-
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥११९॥

अन्वयः — (हे नाथ !) इति, एतस्याः, वाक्यम्, चिरात्, सफलय, (च) सद्यः, स्वम्, वेश्म, आसाद्य, नवरतरसैः, एनाम्, स्वस्थचित्ताम्, कुरुष्व, या, प्राक्, तल्पे, निशि, मोहात्, स्वप्ने, त्वाम्, ईक्षमाणेव, इति, वदति स्म, (हे) कितव ! त्वम् कामपि, रमयन्, मया, दृष्टः।

इत्येतस्याः इति। इत्येतस्याः वाक्यं हे नाथ ! अमुना प्रकारेण राजीमत्याः तवागमनरूपं वचनम्, इति भावः। चिरात् सफलय भूयांसं कालं यावत् त्वं सार्थय। च, सद्यः स्वं वेश्मासाद्य तत्क्षणं तत्कालं वा भवान्, नेमिः इत्यर्थः, निजं गृहं गत्वा। नवरतरसैः नवीनकेलिक्रीडाभिः। एनां राजीमतीम्, स्वस्थचित्तां कुरुष्व क्लेशादिरहितमानसां कुरु [कुरुष्व—$\sqrt{}$कृ लोट् (आत्मनेपद) मध्यम पुरुष एकवचन]। या प्राक् तल्पे राजीमती पूर्वं शयने। निशि मोहात् स्वप्ने रात्रौ स्वापे। त्वाम् ईक्षमाणेव भवन्तं, नेमिम् इति भावः, पश्यन्ती इव। इति वदति स्म एवं कथयति स्म यत्। कितव ! त्वं कामपि हे धूर्त ! मत्प्रियः अपरिचितनामधेयां स्त्रियम्। रमयन् मया क्रीडयन् प्रियया राजीमत्या, दृष्टः विलोकितः॥ ११९॥

शब्दार्थः — इति—इस प्रकार, एतस्याः—राजीमती के, वाक्यम्—वचन को, चिरात्—चिरकालतक, सफलय—पूरा करो, च—और, सद्यः—तत्काल, स्वम्—अपने, वेश्म—घर, आसाद्य—जाकर, नवरतरसैः—नवीनकेलिक्रीड़ा द्वारा, एनाम्—इस (राजीमती) को, स्वस्थचित्ताम्—प्रसन्नचित, कुरुष्व—करो, या—जो (राजीमती), प्राक्—पहले, तल्पे—शय्या पर, निशि—रात में, मोहात्—मोहवश, स्वप्ने—स्वप्न में, त्वाम्—तुम (नेमि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को, ईक्षमाणेव—देखती हुई सी, इति—इस प्रकार, वदति स्म—कहती थी, कितव !—हे धूर्त !, त्वम्—तुम, कामपि—किसी स्त्री से, रमयन्—रमण करते हुए, मया—मेरे द्वारा, दृष्टः—देखे गये हो।

अर्थः — इस प्रकार, (तुम) राजीमती के वचन (अर्थात्, द्वारिका लौट चलने की प्रार्थना) को चिरकाल तक सफल करो तथा तत्काल अपने घर जाकर नवीनकेलिक्रीड़ा द्वारा इसको प्रसन्नचित्त करो, जो (राजीमती) पहले शय्या पर रातको मोहवश स्वप्न में तुमको देखती हुई सी इस प्रकार कहती थी कि—हे धूर्त ! तुम किसी स्त्री से रमण करते हुए मेरे द्वारा देखे गये हो।

त्वत्संगादाकुलितहृदयोत्कण्ठया राजपुत्री,
त्वामेषाऽऽवां त्वरयति चिरात् स्नेहपूर्णा प्रयातुम् ।
प्रायेणैताः प्रियजनमनोवृत्तयोऽप्राप्तिभावा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ १२० ॥

अन्वयः — एषा, राजपुत्री, त्वत्संगात्, आकुलितहृदयोत्कण्ठया, चिरात्, स्नेहपूर्णा (सती), त्वाम् (प्रति), आवाम्, प्रयातुम्, त्वरयति, प्रायेण, एताः, प्रियजनमनोवृत्तयः, अप्राप्तिभावात्, इष्टे, वस्तुनि, उपचितरसाः (सन्तः), प्रेमराशीभवन्ति।

त्वत्संगादिति। एषा राजपुत्री हे नाथ ! राज्ञः उग्रसेनस्य दुहिता इयं राजीमती। त्वत्संगाद् आकुलितहृदयोत्कण्ठया भवतः, 'नेमेः इत्यर्थः, मेलनात् चित्तौत्सुक्यतया। चिरात् स्नेहपूर्णा (सती) त्वां भूयांसं कालं यावत् प्रणयाभिभूता सती भवन्तं, नेमिम् प्रति इति भावः। आवां सौविदल्लसख्यौ, प्रयातुं त्वरयति गन्तुमुत्सुकयति प्रेरयति वा। प्रायेणैताः प्रियजनमनोवृत्तयः बहुशः प्रणयाभिभूताः इष्टजनचित्तवृत्तयः। अप्राप्तिभावात् संयोगाभावात्। इष्टे वस्तुनि अभीष्टे, ईप्सिते वा पदार्थे, वल्लभे इत्यत्र भावः। उपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति समृद्धाऽभिलाषाः सन्तः प्रणयराशीभविन्त, विरहासहिष्णुतां प्राप्नुवन्ति ॥ १२० ॥

शब्दार्थः — एषा—यह, राजपुत्री—राजीमती, त्वत्संगात्—तुम्हारे संयोग के निमित्त, आकुलितहृदयोत्कण्ठया—व्याकुलचित्त की उत्कण्ठा से, चिरात्—चिरकाल तक, स्नेहपूर्णा (सती)—स्नेहाभिभूत होकर, त्वाम् (प्रति)—तुम्हारे प्रति, तुम्हारे पास, आवाम्—हम (मुझे और सौविदल्ल)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों को; प्रयातुम्—जाने के लिए, त्वरयति—उत्सुक करती है, प्रेरित करती है; प्रायेण—प्रायः, एताः—स्नेहाभिभूत, प्रियजनमनोवृत्तयः—प्रियजनों की चित्तवृत्तियाँ, अप्राप्तिभावात्—संयोग न होने के कारण, इष्टे—अभिलषित, वस्तुनि—पदार्थ के विषयमें, उपचितरसाः—बढ़े हुए रस (अभिलाष) वाले (होकर), प्रेमराशीभवन्ति—प्रेमपुंज के रूप में परिणत हो जाते हैं।

अर्थः — यह राजीमती तुम्हारे संयोग के निमित्त व्याकुल चित्त की उत्कण्ठा से चिरकाल तक स्नेहाभिभूत होकर तुम्हारे प्रति हम (मुझे और सौविदल्ल) दोनों को जाने के लिए प्रेरित करती है; प्रायः स्नेहाभिभूत प्रियजनों की चित्तवृत्तियाँ संयोग न होने के कारण अभिलषित पदार्थ के विषय में बढ़े हुए आस्वाद से युक्त होते हुए प्रेमपुञ्ज के रूप में परिणत हो जाता है।

टिप्पणी: — 'प्रेमराशी-भवन्ति'—स्नेह और प्रेम दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। वियोगावस्था में अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति में उसके प्रति कुछ न कुछ कल्पना होती रहती है। फलस्वरूप एक ऐसी अवस्था हो जाती है कि वियोगी या विरहिणी का उस अभिलषित वस्तु के अभाव में रह पाना सम्भव नहीं होता, यही 'प्रेम' है तथा 'अभीष्ट' वस्तु के लिए व्यापार करना 'स्नेह' और उसके बिना नहीं रह पाना 'प्रेम' है। स्नेह मरता नहीं अपितु विरह में स्नेह 'प्रेमपुञ्ज' बन जाता है। संयोग की सात अवस्थाएँ होती हैं जहाँ स्नेह और प्रेम का अलग-अलग कथन है—

"प्रेक्षा दिदृशा रम्येषु तच्चिन्तात्वभिलाषकः।
रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया॥
तद्वियोगाऽसहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम्।
शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात्"॥

तस्माद्बालां स्मरशरचयैः दुस्सहैर्जर्जराङ्गीं,
सम्भाव्यैनां नय निजगृहान् सत्वरं यादवेन्द्र!।
प्रीत्या चास्या मधुरवचनाऽऽश्वासनाभिः कृपार्द्रैः,
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः॥१२१॥

अन्वयः — (हे) यादवेन्द्र!, तस्मात्, सम्भाव्य, दुस्सहैः, स्मरशरचयैः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जर्जराङ्गीम्, एनाम्, बालाम्, सत्वरम्, निजगृहान्, नय, च, कृपार्द्रः (सन्), प्रीत्या, मधुरवचनाऽऽश्वासनाभिः, प्रातः, कुन्दप्रसवशिथिलम्, अस्याः, जीवितम्, धारयेथाः ।

तस्माद्बालामिति । यादवेन्द्र ! तस्मात् सम्भाव्य हे यादवेन्द्र ! तस्माद्धेतोः एवं मत्वा । दुस्सहैः स्मरशरचयैः कष्टसाध्यैः, सोढुमशक्यैः वा मदनबाणसमूहैः । जर्जराङ्गीम् एनां बालां विदारितदेहाम् इमां राजीमतीम् । सत्वरं निजगृहान्नय शीघ्रं स्ववासान् प्रति प्रापय । च, कृपार्द्रः प्रीत्या सकरुणः सन् प्रेम्णा । मधुरवचनाऽऽश्वासनाभिः मधुरवचनैः या आश्वासना—आश्वासकरणं ताभिरित्यर्थः । प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं प्रात्यूषिकमाध्यपुष्पदुर्बलम् । अस्याः जीवितं धारयेथाः राजीमत्याः जीवनं धारणं कुर्याः । (धारयेथाः—√धृ + विधिलिङि मध्यमपुरुषैकवचने विभक्ति कार्यम्) ॥ १२१ ॥

शब्दार्थः — यादवेन्द्र !—हे यादवेन्द्र !, तस्मात्—इसलिए, सम्भाव्य—ऐसा मानकर, सम्भावना कर, दुस्सहैः—सहन करने में असमर्थ, स्मरशरचयैः—कामदेव के बाणसमूह से, जर्जराङ्गीम्—जर्जर शरीरवाली, पीड़ित शरीर वाली, एनाम्—इस, बालाम्—राजीमती को, सत्वरम्—शीघ्र, निजगृहान्—अपने निवासगृह को, नय—ले जाओ, च—और, कृपार्द्रः (सन्)—दयायुक्त होकर, दया करते हुए, प्रीत्या—प्रीतियुक्त, स्नेहयुक्त, मधुरवचनाऽऽश्वासनाभिः—मधुरवचनों से आश्वासन के द्वारा, प्रातः—प्रातःकालिक, कुन्दप्रसवशिथिलम् खिले हुए कुन्द (चमेली) के फूल के समान दुर्बल, अस्याः—राजीमती के, जीवनम्—जीवन को, धारयेथाः—रक्षा करना।

अर्थः — हे यादवेन्द्र ! इसलिए ऐसा मानकर सहन करने में असमर्थ काम के बाणसमूह के द्वारा जर्जर शरीर वाली इस राजीमती को शीघ्र अपने निवास गृह ले जाओ तथा दया युक्त होकर स्नेहपूर्ण मधुरवचनों से आश्वासन के द्वारा प्रातःकालिक खिले हुए कुन्द (चमेली) पुष्प के समान दुर्बल राजीमती के जीवन (प्राण) की रक्षा करना (अर्थात् प्राण की रक्षा करो) ।

त्वामर्थेऽस्याः किमिति नितरां प्रार्थये नाथ ! भूयो,
यस्मादीदृग्जगति महतां लक्षणं सुप्रसिद्धम् ।
स्नेहादेते न खलु मुखरा याचिताः सम्भवन्ति,
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ १२२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — (हे) नाथ !, भूयः, अस्याः; अर्थे, त्वाम्, नितराम्, किमिति, प्रार्थये; यस्मात्, जगति, महताम्, लक्षणम्, इदृग्, सुप्रसिद्धम्, एते, याचिताः (सन्तः), स्नेहात्, खलु, मुखराः, न, सम्भवन्ति, हि, प्रणयिषु, ईप्सितार्थक्रिया, एव, सताम्, प्रत्युक्तम् ।

त्वामर्थेस्याः इति । नाथ ! भूयः अस्याः अर्थे हे नाथ ! पुनः राजीमत्याः कृते । त्वां नितरां भवन्तमत्यधिकम् । किमिति प्रार्थये याचे । यस्माद्धेतोः जगति अस्मिन् संसारे । महतां लक्षणं सज्जनानां गुणम् । इदृग् सुप्रसिद्धम् एवं प्रख्यातमस्ति । एते याचिताः महान्तः प्रार्थिताः सन्तः । स्नेहाद् खलु मुखराः न ते प्रणयात् खलु वाचालाः न जायन्ते । हि प्रणयिषु यस्मात् प्रार्थिषु (विषये) । ईप्सितार्थक्रियैव अभिलषित-कार्यकरणमेव । सतां प्रत्युक्तं सज्जनानां प्रतिवचनम् अभीष्ट-कार्य-सम्पादनमेव प्रार्थिषूत्तरं भवतीति भावः [प्रत्युक्तम्—प्रति + √ वच् + क्तः + विभक्तिः] ॥ १२२ ॥

शब्दार्थः — नाथ ! = हे नाथ !, भूयः —पुनः, फिर, अस्याः—राजीमती के, अर्थे—लिए, त्वाम्—तुमसे, नितराम्—अत्यधिक, किमिति—क्या, प्रार्थये—याचना करूँ, यस्मात्—इसलिए कि, जगति—इस संसार में, इस लोक में, महताम्—बड़ों का, सज्जनों का, लक्षणम्—गुण, इदृग्—इस प्रकार, सुप्रसिद्धम्—प्रसिद्ध है (कि), एते—सज्जनों से, याचिताः—याचना करने पर, स्नेहात्—वे स्नेह के कारण, खलु—यहाँ वाक्यालंकार के लिए प्रयुक्त है, मुखराः—वाचाल, न—नहीं, सम्भवन्ति—होते हैं, हि—क्योंकि, प्रणयिषु—याचकों के, ईप्सितार्थक्रिया—अभिलषित अर्थ का सम्पादन, एव—ही, सताम्—सज्जनों का, प्रत्युक्तम्—उत्तर हुआ करता है ।

अर्थः — हे नाथ ! पुनः राजीमती के लिए तुमसे अत्यधिक क्या याचना करूँ, इसलिए कि इस संसार में सज्जनों का गुण (लक्षण) इस प्रकार प्रसिद्ध है — सज्जनों से याचना करने पर वे स्नेह के कारण वाचाल नहीं होते हैं, क्योंकि याचकों के अभिलषित अर्थ का सम्पादन ही सज्जनों का प्रत्युत्तर हुआ करता है ।

गत्वा शीघ्रं स्वपुरमतुलं प्राप्य राज्यं त्रिलोक्यां,
कीर्तिं शुभ्रां वितनु सुहृदां पूरयाशां च पित्रोः ।
राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥१२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः — स्वपुरम्, शीघ्रम्, गत्वा, अतुलम्, राज्यम्, प्राप्य, त्रिलोक्याम्, शुभ्राम्, कीर्तिम्, वितनु, सुहृदाम्, पित्रोः, च, आशाम्, पूरय, च, भूयः, वर्षासु, नवघनस्य, विद्युता, इव, राजमीत्या, सह, ते, क्षणम्, अपि, एवम्, विप्रयोगः, मा, भूत् ।

गत्वा शीघ्रमिति । स्वपुरं शीघ्रं हे नाथ ! निजद्वारिकां त्वरितम् । गत्वा लब्धासाद्य वा । अतुलं राज्यं प्राप्य अनुपमं राष्ट्रं लब्ध्वा । त्रिलोक्यां शुभ्रां निर्मलां कीर्तिं यशं वितनु विस्तारयतु । सुहृदां पित्रोश्च मित्राणां माता-समुद्रविजययोश्च । आशां पूरय मनोरथं सफलय । च भूयो वर्षासु पुनः प्रावृट्सु । नवघनस्य विद्युतेव नूतनमेघस्य चपलया यथा । राजीमत्या सह सार्धम् । ते क्षणमपि तव, नेमेः इति भावः, निमेषमात्रमपि । एवं विप्रयोगः एवं वियोगः (विप्रयोगः — वि + प्र + $\sqrt{}$ युज् + घञ् + विभक्तिः) मा भूत् न भवेत् ॥ १२३ ॥

शब्दार्थः — स्वपुरम् — अपनी द्वारिका पुरी, शीघ्रम्—शीघ्र, गत्वा—जाकर, अतुलम्—अनुपम, राज्यम्—राज्य को, प्राप्य—प्राप्त करके, त्रिलोक्याम्—तीनों लोक में, शुभ्राम् — स्वच्छ, निर्मल, कीर्तिम्—यश को, वितनु—फैलाओ, बढ़ाओ, सुहृदाम्—मित्रजनों की, पित्रोः—माता-पिता के, च—और, आशाम्—मनोरथ को, पूरय—पूरा करो, च—तथा भूयः—पुनः, वर्षासु—वर्षाकालिक, नवघनस्य—नूतन मेघ का, विद्युता—बिजली (प्रिया) की, इव—तरह, राजीमत्या—राजीमतीके, सह—साथ, ते—तुम्हारा (नेमि का), क्षणम्—क्षणभर, पलभर, अपि—भी, एवम्—ऐसा, विप्रयोगः—वियोग, मा—न, भूत्—हो ।

अर्थः — (हे नाथ !) अपनी द्वारिका पुरी शीघ्र जाकर अनुपम राज्य को प्राप्त करके तीनों लोक में (अपने) यश को फैलाओ । मित्रजनों और माता-पिता के मनोरथ को पूरा करो; तथा पुनः वर्षाकालिक नूतनमेघ का बिजली की तरह राजीमती के साथ तुम्हारा पल भर भी ऐसा वियोग न हो ।

टिप्पणी: — 'वर्षासु नवघनस्य विद्युता इव'—यहाँ का भाव यह है कि वर्षाकाल में आकाश में उमड़ते मेघों के साथ विद्युत का होना नियत है। दूसरे शब्दों में वर्षाकालिक मेघ के छा जाने पर विद्युत का दिखलाई पड़ना स्वभावसिद्ध है। उसी प्रकार राजीमती का जिसका त्याग नेमि ने कर दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है पुनर्मिलन होने पर मेघ और विद्युत की तरह राजीमती और नेमि का वियोग कभी न हो।

तत्सख्योक्ते वचसि सदयस्तां सतीमेकचित्तां,
सम्बोध्येशः सभवविरतो रम्यधर्मोपदेशैः।
चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः,
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ १२४ ॥

अन्वयः — तत्सख्या, वचसि, उक्ते (सति), सदयः, ईशः, ताम्, एकचित्ताम्, सतीम्, रम्यधर्मोपदेशैः, सम्बोध्य, योगात्, सभवविरतः, मोक्ष-सौख्याप्तिहेतोः, निजसहचरीम्, चक्रे, हि, उत्तमेषु, प्रार्थना, केषाम्, अभिमत-फला, न, स्यात्।

तत्सख्येति। तत्सख्या वचसि एवं सख्या राजीमत्या मनोभावे। उक्ते कथिते सति। सदयः ईशः तामेकचित्तां सतीं सकरुणः नेमिः एकाग्रचित्तां पतिव्रतां राजीमतीम्। रम्यधर्मोपदेशैः सम्बोध्य श्रवणप्रियधर्मप्रतिपादकवाक्यैः प्रतिबोध्य। योगात् सभवविरतः ज्ञानदर्शन-चारित्रादिमोक्षोपायात् संसारो-परतः। मोक्षसौख्याप्तिहेतोः मुक्तिसुखप्राप्तिहेतोः। निजसहचरीं चक्रे निज-पाणिगृहीतीव या सा तां राजीमतीं चकार। ह्युत्तमेषु प्रार्थना यतः महत्सु याञ्चा। केषाम् अभिमतफला जनानां प्राप्तकामा [अभिमतं फलं यस्याः सा अभिमतफलाः (बहुव्री०)]। न स्यात् न भवेत्, सर्वेषाम् प्रार्थना महत्सु लब्धकामा, भवत्येवेति भावः ॥ १२४ ॥

शब्दार्थः — तत्सख्या—राजीमती के सखी के द्वारा, वचसि—राजीमती के मनोभावों को, उक्ते (सति)—कह लेने पर, कहने के बाद, सदयः—सहृदय, ईशः—नेमिने, ताम्—उस, एकचित्ताम्—एकाग्रचित्त, सतीम्—पतिव्रता को, रम्यधर्मोपदेशैः—सुन्दर धर्म के उपदेश के द्वारा, सम्बोध्य—सम्बोधित कर, योगात्—योग से, सभवविरतः—सांसारिक सुखों से विरत कर, मोक्षसौख्याप्तिहेतोः—मुक्तिसुख प्राप्ति के लिए, निजसहचरीम्—अपना सहचरी, अपना सङ्गिनी, चक्रे—बनाया, हि—क्योंकि, उत्तमेषु—बड़ों से, प्रार्थना—की गई याचना, केषाम्—किनकी, अभिमतफला—सफल, न स्यात्—न हो ? अर्थात् सबों की प्रार्थना सफल होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः — सखी के द्वारा राजीमती के मनोभावों को कहने के बाद सहृदय नेमि ने एकाग्रचित्त पतिव्रता राजीमती को सुन्दर धर्मोपदेशके द्वारा सम्बोधित कर योग से सांसारिक सुखों से विरत कर मोक्षप्राप्ति के लिए अपना सङ्गिनी बनाया, क्योंकि उत्तम पुरुषों से की गई प्रार्थना किनकी अभीष्ट फल देने वाली नहीं होती।

श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन्
नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोऽधिगम्य ।
तामानन्दं शिवपुरि परित्याज्य संसारभाजां,
भोगानिष्टानभिमतसुखं[1] भोजयामास शश्वत् ॥ १२५ ॥

अन्वयः — अस्मिन्, अचलशिखरे, योगात्, केवलज्ञानम्, अधिगम्य देवोरगनरगणैः, स्तूयमानः श्रीमान् नेमिः, ताम्, संसारभाजाम्, इष्टान्, भोगान्, परित्याज्य, शिवपुरि, अभिमतसुखम्, आनन्दम्, शश्वत्, भोजयामास।

श्रीमान् योगादचलशिखरे इति। अथ अस्मिन् अचलशिखरे रामगिरौ वा। योगात् केवलज्ञानमधिगम्य ध्यानात् केवलज्ञानं प्राप्य लब्ध्वा वा। देवोरगनरगणैः देवाश्च उरगाश्च नराश्च तेषां ये गणास्तैः स्तूयमानः वन्द्यमानः श्रीमान्नेमिः तां भाग्यवान्नेमिः निजसहचरीं राजीमतीम्। संसारभाजाम् इष्टान् भोगान् सुखदुःखमोहस्वरूपां प्रियान् भोग्यपदार्थान्। परित्याज्य मोचयित्वा। शिवपुरि मोक्षपुर्याम्। अभिमतसुखम् आनन्दं निरन्तर सुखम्, यथा स्यात्तथा परमानन्दम् [अभिमतसुखम्—अभिमतं सुखं यस्मिन् तद्यथा स्यात्तथा अभिमतसुखम् (बहुव्री०)]। शश्वत् भोजयामास निरन्तरम् अनुभावयाम्बभूव ॥ १२५ ॥

शब्दार्थः — अस्मिन्—इस, अचलशिखरे—रामगिरि पर, योगात्—योग से, ध्यान से, केवलज्ञानम्—केवलज्ञान, अधिगम्य—प्राप्त कर, जानकर, देवोरगनरगणैः—देव-सर्प-नरों (किन्नर-किन्नरियों) द्वारा, स्तूयमानः—स्तुति किये जाते हुए, श्रीमान्नेमिः—नेमिनाथ ने, ताम्—उस राजीमती को, संसारभाजाम्—सांसारिक सुख-दुःख-मोह स्वरूपा, इष्टान्—प्रिय, भोगान्—भोगों को, परित्याज्य—छुड़ाकर के, शिवपुरि—मोक्ष की नगरी में, अभि-

१. 'भोगानिष्टानविरतसुखमि' ति पाठान्तरम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतसुखम्—जिस प्रकार अभीष्ट सुख मिलता रहे, आनन्दम्—परमानन्द का, शश्वत्—निरंतर, भोजयामास—भोग कराया।

अर्थ: — (इसके बाद) इस रामगिरि पर ध्यान से केवलज्ञान प्राप्तकर देव-सर्प-नर (किन्नर-किम्नरियों) द्वारा स्तुति किये जाते हुए इस नेमिनाथ ने उस राजीमती को सांसारिक सुख-दुःख-मोह स्वरूपा प्रिय भोगों को छुड़ाकर के मोक्ष की नगरी में जिस प्रकार (राजीमती को) अभीष्ट सुख मिलता रहे, परमानन्द का निरन्तर भोग कराया।

टिप्पणी: — 'भोजयामास'—णिजन्त√ भोजि से लिट् लकार पुनः 'तिप् णलादि' करके उसका लोप इत्यादि करके 'आम' आदि लाकर, पुनः 'कृञ् चानु प्रयुज्यते लिटि' इस सूत्र से लिट् परक 'अस्' का अनुप्रयोग करके गुण अयादेश आदि करके, 'भोजयामास' रूप बनता है।

सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
दन्त्यं पादं सुपदरचितान् मेघदूताद् गृहीत्वा,
श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥१२६॥

अन्वय: — सद्भूतार्थप्रवरकविना, कालिदासेन सुपदरचितात्, मेघदूताद्, अन्त्यम्, पादम्, गृहीत्वा, साङ्गणस्याङ्गजन्मा, विक्रमाख्यः, बुधजनमनः, प्रीतये, श्रीमन्नेमेश्चरितविशदम्, काव्यम्, चक्रे।

सद्भूतार्थेति। 'सद्भूतार्थप्रवरकविना' सद्भूताः—सत्या ये अर्थास्तैः प्रवरः श्रेष्ठ यः कविस्तेन, कालिदासेन। सुपदरचितान्मेघदूताद् सुष्ठुपदविरचितान्मेघदूताद्। अन्त्यं पादं श्लोकस्य चतुर्थचरणम्; गृहीत्वा ग्रहणं कृत्वा। साङ्गणस्याङ्गजन्मा श्रीसाङ्गणतनयः। विक्रमाख्यः विक्रमनामा कविः। बुधजनमनः प्रीतये सहृदयचेतः आनन्दाय। श्रीमन्नेमेश्चरितविशदम्—निर्मलम्, काव्यं चक्रे चकारेति ॥ १२६ ॥

शब्दार्थ : — सद्भूतार्थप्रवरकविना—सत्य अर्थ को जानने वालों में श्रेष्ठ कवि, कालिदासेन—कालिदास द्वारा, सुपदरचितात्—सुन्दरपदों से रचित, मेघदूताद्—मेघदूत से, अन्त्यम्—अन्तिम, पादम्—चरण (पाद) को, गृहीत्वा—ग्रहण करके, ले कर के, साङ्गणस्याङ्गजन्मा—साङ्गण का पुत्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विक्रमाख्यः—विक्रम नामक कवि ने, बुधजनमनः—सहृदयों के चित्त के, प्रीतये—आनन्द के लिए, श्रीमन्नेमेश्चरितविशदम्—श्रीमान् नेमि के चरित से निर्मल, काव्यम्—काव्य को, चक्रे—बनाया, रचना की।

अर्थः — सत्य अर्थ को जानने वालों में श्रेष्ठ कवि कालिदास द्वारा सुन्दर पदों से रचित 'मेघदूत' से चतुर्थ चरण को ग्रहण करके साङ्गण का पुत्र 'विक्रम' कवि ने सहृदयों के चित्त के आनन्द के लिए श्रीमान् नेमि के चरित को लेकर निर्मल 'नेमिदूत' काव्य को बनाया (नेमिदूत काव्य की रचना की)।

इति विक्रमकविविरचित-नेमिदूतस्य पूर्णियाँमण्डलान्तर्गत 'सुकसेना' ग्राम-निवासिना मिश्रोपाह्वधीरेन्द्रेण कृतया 'रेणुका' टीकया प्रसीदतु धूर्जटिः।

इति शम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्यानुक्रमणिका

पद्य	संख्या	पद्य	संख्या
अत्रात्युग्रै०	३५	एणांकाश्मावनिषु०	८०
अन्तर्भिन्ना०	९९	कर्णे जातिप्रसवं०	७१
अन्तस्तापान्०	१०३	काऽत्र प्रीतिस्तव०	१४
अस्मादद्रे०	२७	किं शैलेऽस्मिन्०	२९
अस्मादद्रेः प्रसरति०	९	कुर्वन् पान्थान्०	१७
अस्मिन्नीते०	११५	कौन्दोत्तंसा०	७८
अस्वीकारात्०	९०	गच्छेर्वेलातटं०	४४
आकर्ण्याद्रि०	५८	गत्वा यूनां०	७४
आकांक्षन्त्या०	९१	गत्वा शीघ्रं०	१२३
आरूढस्य०	५५	गायन्तीभि०	७६
आरोप्याङ्के०	१०५	गीताद्यैर्वा०	९६
आलोक्येनं०	८	तत्रोपास्य०	३८
आहूयैनां०	१०२	तत्रासीनो०	६५
इत्थं कृच्छ्रे०	१०८	तत्सख्यूचे०	८९
इत्युक्तेऽस्या०	८८	तत्सख्योक्ते०	१२४
इत्येतस्या०	११९	तन्नः प्राणानव०	२६
उच्चैर्भिनाञ्जन०	५०	तन्मत्वैवं०	१२
उत्कल्लोला०	४९	तस्माद् गच्छन्०	६१
उद्यत्कामा०	७७	तस्माद्बालां०	१२१
उद्यद्बालव्यजन०	८३	तस्माद्वत्मन्यिघ०	५२
उद्यानानां०	३७	तस्मिन्नद्रौ०	५९
उद्वीक्ष्ययेनं०	३	तस्मिन्नुच्चै०	४६
एतत्तुङ्गं०	२३	तस्मिन्नुद्यन्०	३०
एतद्दुःखापनय०	९३	तस्याधस्ताद्०	३२
एतानीत्थं०	११२	तस्योद्याने०	२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्य	संख्या	पद्य	संख्या
तस्याः पश्यन्०	४०	प्राप्योद्यानं०	६४
तस्या हर्षन्०	६७	प्रावृट् प्रान्तं०	११८
तामासाद्य०	३६	प्रेक्ष्यैतस्मिन्नपि०	१०१
तामुत्तीर्णं०	५१	पुष्पाकीर्णं०	८४
तां दुःखार्ता०	४	पूर्वं येन	१८
तां वेलाङ्के०	४५	पौरैस्तस्या०	४१
तांस्तान्ग्रामान्०	६५	बाणस्याजौ०	८१
तुङ्गं शृङ्गं०	७	भास्वद्भास्वन्०	५६
त्वत्प्राप्त्यर्थं०	९४	मन्नाथेन०	११४
त्वद्रूपेण०	३९	मातुः शिक्षाशतं०	१०६
त्वत्संगादाकुलित०	१२०	मुक्तालङ्कास्तव०	२२
त्वामर्थेऽस्या०	१२२	यत्प्रागासीत्०	१५
त्वामायान्तं०	४२	यत्रस्तम्भात्०	३४
त्वामायान्तं तटवनचरा०	४८	यस्मिन् पूर्वं०	५४
त्वां याचेहं०	३१	यस्यां पुष्पोपचयं०	७९
दुःखं येनानवधि०	११७	यस्यां रम्यं०	७२
दुर्लंघ्यत्वं०	१११	यस्यां सान्द्रान्०	३३
दृष्ट्वा रूपं०	२९	याते पाणिग्रहण०	९५
धर्मज्ञस्त्वं०	११०	यान्तं तस्यां०	८५
धूतानिद्राऽर्जुन०	२४	या प्रागस्या०	९७
नत्वा पूर्वं०	८७	यामालोक्य०	२०
नानारत्नोपचित०	५३	यामुद्दामखिल०	६९
नाम्ना रत्नाकरं०	४७	यायास्तस्मात्०	८२
नीपामोदान०	६०	युक्तं लक्ष्म्या०	२१
नोत्साहस्ते०	२५	रम्या हर्म्ये०	१६
प्रत्यासत्ति०	६३	रात्रौ निद्रां०	११३
पश्यन्ती त्वत्०	९८	रात्रौ यस्यां०	७५
प्राणित्राणप्रवण०	१	वत्से शोकं०	१०४
प्राप्यानुज्ञां०	१०९	वन्यहारा०	१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्य	संख्या	पद्य	संख्या
व्याधिर्देहान्०	७०	श्रुत्वा यान्तं०	५७
वीक्ष्याकाशं०	१०	सद्भूतार्थ०	१२६
वृत्तान्तेऽस्मिन्०	१००	सा तत्रोच्चै०	२
वृद्धः साध्व्या०	१०६	सा तं दूना०	६
शय्योत्संगे०	९२	सान्द्रोन्निद्रार्जुन०	६६
शश्वत् सान्द्र०	६८	सिद्धेः सङ्गं०	५
शैलप्रस्थे०	११	सौध श्रेणी०	८६
श्रीमान् योगात्०	१२५	संचिन्त्यैवं०	११६
श्रुत्वा तीरे०	४३	संसक्तानां०	७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्याकार

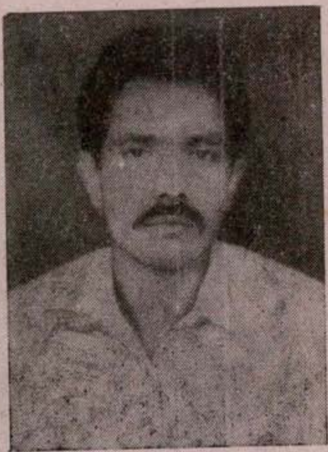

बिहार प्रान्त के पूर्णियाँ मण्डलान्तर्गत सुकसेना ग्राम निवासी मेरा जन्म ५ मई १९६० ई० को हुआ। मेरे पिता स्व० लक्ष्मीनाथ मिश्र थे। बिहार विद्यालय परीक्षा समिति से प्रवेशिका तथा कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से इण्टर समकक्ष एवं स्नातक (संस्कृत-प्रतिष्ठा) की शिक्षा प्राप्त की। पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नाकोत्तर (संस्कृत) तथा जैनाचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र की संयुक्त कृति 'नाट्यदर्पण,— एक समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक पर पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त की। सन् १९९१ ई० में कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा से साहित्याचार्य की उपाधि ग्रहण करने के बाद मैं इस कार्य के प्रति उन्मुख हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ सटीक 'नेमिदूतम्' के अतिरिक्त जैन महाकवि रामचन्द्रसूरि रचित 'निर्भय-भीम-व्यायोग' तथा 'नलविलास' नाटक का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशनार्थ स्वीकृत हो चुका है। सम्प्रति श्रीहरिभद्रसूरि की कृति 'षोडशकप्रकरण' का हिन्दी अनुवाद भी, जो प्रकाशनार्थ स्वीकृत हो चुका है, अन्तिम अवस्था में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org